लोकप्रियसाहित्यग्रन्थमाला-15

शिवस्तोत्रावली

(भारतीय भक्ति-परम्परा के विभिन्न आयामों के संदर्भ में)



डॉ. सुषमा ज़ाडू जतू

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
नई दिल्ली

लोकप्रियसाहित्यग्रन्थमाला - 15

शिवस्तोत्रावली

भारतीय भक्ति-परम्परा के विभिन्न
आयामों के संदर्भ में)

प्रधान सम्पादक

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी

डॉ. सुषमा जाडू जातू

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

नई दिल्ली

लोकप्रियसाहित्यग्रन्थमाला - 15

शिवस्तोत्रावली

(भारतीय भक्ति-परम्परा के विभिन्न आयामों के संदर्भ में)

प्रधान सम्पादक
प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी

सुषमा ज़ाड़ू जतू

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
मानित विश्वविद्यालय
(मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार के अधीन)
नई दिल्ली

प्रकाशक :

कुलसचिव,

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

(मानित विश्वविद्यालय)

56-57, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, जनकपुरी,

नई दिल्ली-110058

ईपीएबीएक्स : 28524993, 28521994, 28524995

तार : संस्थान

ई मेल : rsks@nda.vsnl.net.in

वेबसाईट : www.sanskrit.nic.in

प्रथम संस्करण : 2010

ISBN : 978-93-86111-42-5

मूल्य : 120.00 रुपये

मुद्रक :

डी.वी. प्रिंटर्स

97-यू.बी., जवाहर नगर, दिल्ली-110007

मो.: 9818279798

पुरोवाक्

कनकमपि रहस्यवेक्ष्य बुद्ध्या तृणमपि यस्समवैति परस्वम्।
भवति च भगवत्यनन्तचेताः पुरुषवरं तमवेहि विष्णुभक्तम्।।

इति विष्णुपुराणे विष्णुभक्तव्याजेन भक्तलक्षणमुक्तम्। तदिह भक्तेरपि लक्षणमाहुः। अस्या भक्तेः पूर्वावस्था हि भवति श्रद्धा, सैव भक्तेरप्याधारः। तदुक्तं श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते इति यजुर्वेदे।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां 'चरमश्लोक इति प्रथिते श्लोके' भक्तेः परं लक्षणं निगदितमस्ति। तादृशभक्तेः सामान्येषु प्रेरणार्थं स्तोत्रकाव्यानि आरचितानि मनीषिभिः कविवरैः। तत्र पौराणिकदेवतासु भक्तिप्रेरकाणि स्तोत्राणि बहूनि दृश्यन्ते। तत्र पुनः कश्मीरदेशे कवयो न किञ्चिद् वाङ्मयं तत्यजुर्यत्र तेषां वैदुष्यमुद्रा न प्रतिष्ठापिता स्यात्। तत्र च कश्मीरशैवाचार्याः शैवदर्शने स्वीयमप्रतिहतं प्रातिभं दर्शयामासुः। आचार्यवसुगुप्तादारभ्य प्रवर्तितः एषः शैवसम्प्रदायः आचार्येण उत्पलदेवेन अभिनवगुप्तेन च संवर्धित इत्यत्र इतिहास एव प्रमाणम्।

स्वीयदर्शनस्य उपोद्बलनार्थं तदा तदा आचार्यैः भक्तिस्तोत्राण्यपि रचितानि। तेष्वन्यतमतां भजते उत्पलदेवस्य शिवस्तोत्रावली। अस्मिन् स्तोत्रनिचये भगवतः शिवस्य भक्तेः विविधायामा विविच्यन्ते। इयं स्तोत्रावली शैवभक्तेः अद्भुतमर्मस्पर्श्यभिव्यक्तेरमूल्यः शेवधिरस्ति। अत एव भारतीयभक्तिपरम्परायाः स्तोत्रकाव्येष्वपि इयमतुलनीयं स्थानं भजते। अत्र कारणं कश्मीरशैवदर्शने भगवान् शिव एव एकमात्रं नित्यसत्यं मन्यमानस्य मनस आध्यात्मिकश्रद्धा एव भक्तिरिति मन्यते। तामिमां धारणामवलम्ब्य

उत्पलदेव: अस्यां स्तोत्रावल्यां भक्तिसंवेगस्य तीव्रतां मुखरयति। तदित्थम् अध्वविस्फुरणाख्ये स्तोत्रे-

वियोगसारे संसारे प्रियेण प्रभुणा त्वया।
अवियुक्तः सदैव स्यां जानतापि वियोजितः।।

इत्यादिश्लोकैर्द्रष्टुं शक्यते।

शिवस्तोत्रावलीग्रन्थोऽयं सम्प्रति न सर्वथा सुलभ इति मूलपाठसहितं सर्वाङ्गीणमस्यानुशीलनं विदुष्या सुषमाजाडूवर्यया विहितं पुस्तकेऽस्मिन् प्रस्तूयते। ग्रन्थेऽस्मिन् प्रथमेऽध्याये आचार्यस्य उत्पलदेवस्य तत्कृतेश्च परिचयो विस्तरेण प्रदत्तोऽस्ति। द्वितीयेऽध्याये भक्तिसाहित्यस्य सिंहावलोकनमेव कृतं वर्तते यत्र वैदिकवाङ्मयादारभ्य लौकिकसाहित्यं यावद्भक्तेः परिचयं दत्त्वा भक्तेः शास्त्रीयः पक्षोऽपि दृढतरं प्रस्तुतः। तृतीयेऽध्याये भक्तेर्विविधधाराः परिचायिताः। चतुर्थे च शिवस्तोत्रावल्याम् उपासक-उपास्य-उपासनादीनां विस्तृतविवेचनपुरस्सरम् उत्पलदेवस्य भक्तेर्वैशिष्ट्यं दर्शितम्।

एषः ग्रन्थः विदुषीमणिभिः श्रीमतीसुषमा जाडू महोदयाभिः महता श्रमेण सन्दृब्धः। ताभ्यः सादरम् आधमर्ण्यं प्रकटयामः। अमुं ग्रन्थं विदुषां पुरतः समुपस्थापयितुं हर्षञ्चानुभवामः। एषोऽपि ग्रन्थः विद्वद्भिः समादृतो भवेदिति च विश्वसिमः।

ग्रन्थप्रकाशनकर्मणि साह्यमाचरितवद्भ्यः समेभ्यः साधुवादाः वितीर्यन्ते।

नवदेहली
१९.०७.१०

राधावल्लभः त्रिपाठी

भूमिका

कश्मीर मण्डल अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवर्ष के विद्वत्समाज का पथ-प्रदर्शक रहा है। इस तथ्य के प्रमाण हैं–इसका प्राचीन नाम शारदा देश एवं इसी प्रदेश की लिपि-शारदा। इस भूमि के सारस्वत साधकों की संख्या, कार्यक्षेत्र एवं कृतियाँ, सभी तथ्य चमत्कारी हैं। विद्या के सभी आयाम यहाँ प्रस्फुटित, पुष्पित एवं पल्लवित हुए। फिर बात चाहे दर्शन-शास्त्र की हो अथवा काव्यशास्त्र की, ऐतिहासिक ग्रन्थों की हो अथवा ललित काव्यों की, कश्मीर के आचार्यों ने विद्या का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं छोड़ा जिस पर उनकी वैचारिक छाप न हो। कश्मीर शैव-दर्शन भी इस स्थापना का अपवाद नहीं। कश्मीर के शैवाचार्यों ने शैव-दर्शन को अपने अकाट्य तर्कों एवं प्रातिभ विश्लेषण क्षमता द्वारा ऐसी दृढ़ पृष्ठभूमि प्रदान की इसमें अभिरुचि रखने वालों की संख्या, गंगा की अविरल धारा की भाँति बढ़ती ही जा रही है। परिणामत: केवल भारतवर्ष के ही नहीं अपितु विश्वभर के विद्वन्मण्डल में यह दर्शन जिज्ञासा, मीमांसा, शोध एवं अभिव्यक्ति रूपी उपादानों का पर्यायवाची बन गया है। इस दर्शन के आदिगुरु आचार्य वसुगुप्त हैं। आचार्य उत्पलदेव एवं आचार्य अभिनवगुप्त क्रमश: इसके पालक एवं पोषक कहे जा सकते हैं।

आचार्य उत्पलदेव के भक्तिपरक स्तोत्रों का संग्रह है– *शिवस्तोत्रावली।* आचार्य द्वारा भगवान् शिव के प्रति निवेदित भक्ति के विभिन्न आयाम इस ग्रन्थ का मुख्य विवेच्य हैं। यह रचना शैवभक्ति की सर्वाधिक सुन्दर एवं मर्मस्पर्शी अभिव्यक्तियों की अमूल्य शेवधि है। वैसे तो भारतीय भक्ति-परम्परा में संस्कृत स्तोत्रग्रंथों का प्राचुर्य है, पर उन सब में शिवस्तोत्रावली अन्यतम है। इसका एकमात्र कारण है– इसमें अक्षराकारित इसके स्रष्टा के संवेगों की तीव्रता एवं मुखरता। इस ग्रन्थ की रचना आचार्य उत्पल ने किसी सामान्य कवि की भाँति नहीं अपितु

समावेशदशाविष्ट, समाधिमग्न साधक की भाँति की है। अतएव यह ग्रन्थ अपने में अनुपम है। इसमें भक्त के आर्त्तनाद, भक्ति, उन्माद, विवशता, दैन्य, ग्लानि, नम्रता, उपालम्भ और समर्पण आदि भावों का ग्रथन अत्यन्त सौष्ठव के साथ हुआ है। इस रचना की विशेषता यह है कि कवि ने लौकिक संज्ञा-शून्य स्थिति में ये मुक्तक गाए हैं। यह संग्रह उनकी भक्तिभावना की पराकाष्ठा है। भक्ति, अर्थात् परमात्मा में जीवात्मा की सहभागिता, अपने इष्ट के प्रति निष्काम श्रद्धा, अन्तरंग प्रेम, मानसिक पूजा तथा आत्मसमर्पण एवं आत्मनिवेदन द्वारा पुष्ट भी होती है और अभिव्यक्त भी। शिवस्तोत्रावली में आचार्य को समाधि और व्युत्थान दोनों में सामरस्य दृष्टिगोचर हुआ है। ध्यान, अर्चना, जप आदि का विधिपूर्वक आश्रय लिए बिना ही उन्हें अकस्मात् शिवाभास हुआ और स्वात्म-उल्लास के रंग से सारा विश्व रँगा हुआ सा प्रतीत हुआ। संस्कृत भक्ति साहित्य शिवस्तोत्रावली के बिना अधूरा और अपूर्ण सिद्ध होगा, इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं। उत्पलाचार्य ने इस ग्रन्थ द्वारा संस्कृत स्तोत्र-साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की।

कश्मीर के शैव-दर्शन में शिव को एकमात्र नित्य सत्य मानने वाले मन की आध्यात्मिक श्रद्धा ही भक्ति है। कश्मीर-शैव-दार्शनिकों में प्रथम भक्ति-ग्रन्थ भट्टनारायण का *स्तवचिन्तामणि* है। भट्टनारायण कश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा के शासनकाल में 9वीं शती के उत्तरार्द्ध में हुए थे। ऐसी मान्यता है कि ये आचार्य वसुगुप्त के शिष्य थे। इनकी स्तवचिन्तामणि 120 श्लोकों का संग्रह है जो संभवतः पारलौकिक समाधि की दशा से, इहलोक में इनके प्रवेश के सद्योपरान्त ही कहे गए हैं।

कश्मीर-शैव-दर्शन के आधारभूत ग्रन्थों का एक सिंहावलोकन यहाँ अप्रासंगिक न होगा। कश्मीर शैव-दर्शन सिद्धान्ततः एक अद्वैतवादी दर्शन है और इसके आचार्यों ने भी अद्वैतवादी तन्त्रागमों का आश्रय ग्रहण किया है। परम्परया ऐक्य-दर्शन का प्रख्यापन करने वाले आगमों की संख्या चौंसठ मानी जाती है। इसमें से कुछ आगम ही सम्प्रति प्राप्य हैं जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं—मालिनीविजय, स्वच्छन्द, रुद्रयामल, विज्ञानभैरव, परात्रीशिका (वस्तुतः यह रुद्रयामल का ही एक अंश है),

कुलार्णव, वामकेश्वरी, नेत्र- एवं मृगेन्द्रतन्त्र (कामिकागम का एक खण्ड)। आचार्य अभिनवगुप्त ने मालिनीविजयोत्तर को सर्वाधिक आदरास्पद बताते हुए कहा भी है–कि [तन्त्रालोक में] "ऐसा कुछ भी नहीं है, जो मालिनीविजयोत्तर में नहीं। न तदस्तीह यन्न श्रीमालिनीविजयोत्तरे (तन्त्रा. 1.17), शैव दर्शन का सार त्रिक-शास्त्र है और त्रिक का सार मालिनी है।" (–वही–1.18) उपर्युक्त आगम ही कश्मीर शैव-दर्शन के मूल उत्स हैं। आचार्य वसुगुप्त ने 8वीं शती के उत्तरार्द्ध अथवा 9वीं शती के पूर्वार्द्ध में *शिव-सूत्रों* का दर्शन किया। इनके शिष्य भट्ट कल्लट ने नवीं शती के मध्य में, *स्पन्दकारिका* की रचना की। नवीं शती के उत्तरार्द्ध में आचार्य सोमानन्द ने अपने प्रतिपक्षियों का खण्डन एवं अपने मत का प्रतिष्ठापन करते हुए *शिवदृष्टि* का प्रणयन किया। सोमानन्दाचार्य को प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का जनक कहा जा सकता है। इन्हीं सोमानन्द के शिष्य थे उत्पलदेवाचार्य, जो नवीं शती के उत्तरार्द्ध से दशम शती के पूर्वार्द्ध तक रहे तथा जिन्होंने अपने *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका* नामक ग्रन्थ में इस दर्शन की ग्रन्थियों को खोला। आचार्य अभिनवगुप्त, आचार्य उत्पलदेव के शिष्य लक्ष्मणगुप्त के ही शिष्य थे। उत्पलदेवाचार्य की शिवस्तोत्रावली उनकी दर्शनपरक अनुभूतियों का आत्मपरक प्रयोग कही जा सकती है।

एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के अनुसार (जो कि एक अद्वैतवादी दर्शन है!) जीव और शिव की भिन्न स्थिति (जैसा कि भक्ति में होता है!) क्या सम्भव है? इसका उत्तर है–हाँ, यह सम्भव है क्योंकि जब तक जीव अपनी वैयक्तिक संवित् को परम शिव से भिन्न समझता है, तब तक यह स्थिति बनी रहती है। शिव जब पशु हो जाते हैं, तो भी उनका शिवत्व पूर्ववत् ही रेहता है। शिव, शिव भी होते हैं और पशु भी। शिव मानो एक समुद्र हैं, और पशु उनकी एक लहर। अतएव भक्ति की अवधारणा पूर्णत: तर्कसंगत है क्योंकि जीव शिव से वैसे ही भिन्न है, जैसे तरंग और समुद्र, जो दिखने में भिन्न हैं पर तत्त्वत: एवं सारत: अभिन्न हैं। आचार्य उत्पलदेव की शिवस्तोत्रावली इस स्थापना का उत्तम निदर्शन है। लहर उठकर फिर समुद्र ही हो जाती है। ठीक इसी तरह, पशु अंतत: पशुपति में मिलकर शिव ही हो जाता है। इस समस्त परिप्रेक्ष्य में भक्ति जीव के अहंकार का विलयन कर, ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को चार अध्यायों में वर्गीकृत किया गया है। प्रथम अध्याय में कृति एवं कृतिकार का परिचय तथा कृति के दार्शनिक पक्ष का मूल्यांकन किया गया है। द्वितीय अध्याय में भक्ति की अवधारणा का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य उपस्थापित किया गया है। इसमें भक्ति के वैदिक वाङ्मय एवं लौकिक साहित्य में उल्लेख तथा इसके शास्त्रीय आयामों पर प्रकाश डालते हुए कश्मीर शैव-दर्शन एवं कश्मीर शैव भक्ति-परम्परा का परिचय दिया गया है। तृतीय अध्याय में भक्ति की विभिन्न धाराओं यथा-वैष्णव भक्ति, शैव-भक्ति, स्मार्त भक्ति आदि को रेखांकित किया गया है। चतुर्थ अध्याय में, शिवस्तोत्रावली में उपासक, उपास्य एवं उपासना रूपी अवयवों के माध्यम से, भक्ति का स्वरूप उद्घाटित करते हुए आचार्य उत्पलदेव की भक्ति के वैशिष्ट्य को दर्शाया गया है। साथ ही परिशिष्ट के रूप में शिवस्तोत्रावली का अनुक्रमणिका सहित मूल पाठ उपस्थापित कर, इस पुस्तक को और अधिक सुगम, सुबोध एवं सुग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन एवं स्वरूप-निर्धारण में, गुरुवर्य प्रो॰ गयाचरण त्रिपाठी ने मेरा पथ-प्रशस्त किया, जिसके लिए मैं हृदय से उनके प्रति श्रद्धापूर्वक साधुवाद व्यक्त करती हूँ। अपि च, मैं, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के गरिमामय कुलपति एवं अप्रतिम विद्वान् प्रो॰ राधावल्लभ त्रिपाठी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिन्होंने लोकप्रिय साहित्य-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत इस ग्रन्थ के प्रकाशन की स्वीकृति प्रदान की।

गुरुजनों को प्रणाम करते हुए, अपने आदि गुरु स्मृति शेष पिता पं॰ राधाकृष्ण ज़ाड़ू का भी स्मरण करती हूँ जिनकी सत्प्रेरणाएँ सदा मेरे साथ हैं। पुस्तक की लेखन-अवधि में मुझे मेरे पति श्री राजेन्द्र जतू, बच्चों प्रज्ञा एवं प्रणवी तथा श्वसुर प॰ नन्दलाल जतू का अनवरत सहयोग, प्रोत्साहन एवं स्नेह मिलता रहा, जिससे यह उद्यम सफल हुआ।

सुषमा ज़ाड़ू जतू

विषय सूची

प्रथम अध्याय

शिवस्तोत्रावली : कृति एवं कृतिकार

ग्रन्थ-परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ शिवस्तोत्रावली महान् कश्मीरी शैवाचार्य उत्पलदेव की भक्तिपरक अनुपम कृति है। उत्पलदेव अपने जीवन-काल में कुछ समय के लिए भक्ति-भाव की पराकाष्ठा के कारण उन्मत्त दशा को प्राप्त हुए। उनकी इस मत्त दशा में ही शिवस्तोत्रावली की रचना हुई। उन्होंने अपने अन्य ग्रन्थों की तरह सामान्य रूप में इस ग्रन्थ को नहीं लिखा, बल्कि अपनी मत्त दशा में ही, वे तात्कालिक और मौखिक कविता के रूप में श्लोकों को कहते जाते और उनके प्रधान शिष्य उनको लिख डालते।[1] बाद में उनके शिष्यों श्रीराम तथा श्री आदित्यराज ने उन्हें विषयानुसार स्तोत्रों में संकलित कर दिया। कहा जाता है कि ''भक्ति के आवेग से गद्गद होकर, आचार्य ने केवल 13वें, 14वें और 15वें स्तोत्र को क्रमशः संग्रह, जय और भक्ति नाम देकर शेष स्तोत्रों को बिना नाम के ही छोड़ दिया। इन सत्रह स्तोत्रों का नामकरण बाद में, आचार्य विश्वावर्त ने किया, जिसका उल्लेख आचार्य क्षेमराज ने भी अपनी शिवस्तोत्रावली-विवृति में किया है।'' ये सत्रह स्तोत्र इस प्रकार हैं—भक्तिविलास, सर्वात्मपरिभावना, प्रणयप्रसाद, सुरसोद्बल, स्वबलनिदेशन, अध्वविस्फुरण, विधुरविजय, अलौकिकोद्बलन, स्वातन्त्र्यविजय, अविच्छेदभंग, औत्सुक्यविश्वसित, रहस्यनिर्देश, पाशानुद्भेद, दिव्यक्रीडाबहुमान, आविष्कार, उद्योतन, चर्वणा।

क्षेमराज ने शिवस्तोत्रावली की टीका या वृत्ति लिखी है। इसी शिवस्तोत्रावली की हिन्दी टीका श्रीनगर के स्वामी श्री लक्ष्मण जू ने लिखी है, जो आध्यात्मिक जगत् एवं अद्वैत-शैव दर्शन के निष्णात आचार्य होने के साथ-साथ उच्चकोटि के महात्मा भी थे। इसके

---

[1] 'शिवस्तोत्रावली' पृष्ठ–4

अतिरिक्त कश्मीर के एक अन्य विद्वान् श्री एन॰ के॰ कोतरू ने शिवस्तोत्रावली का अंग्रेजी में अनुवाद किया है।

शिवस्तोत्रावली जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, भगवान् शंकर के स्तुतिपरक गीतों का संकलन है। इसमें अद्वैत-शैव-दर्शन के मूल सिद्धान्तों के आधार पर चरम सीमा को पहुँची हुई समावेशमयी भक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। ऐसा भी कह सकते हैं कि इन भक्तिपूर्ण स्तोत्रों के आधार-स्तम्भ शैव-शास्त्र के सिद्धान्त हैं। आचार्य उत्पलदेव ने भक्ति को ज्ञान से बढ़कर मानते हुए कहा है कि 'जिन भक्तजनों ने भक्ति के तेज से राग-द्वेष रूपी अन्धकार को भी जीत लिया है, उन महापुरुषों के सामने ज्ञानी जनों की क्या गिनती है?[1]

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि "हज़ारों मनुष्यों में से कोई एक संसिद्धि के लिए यत्न करता है और उन सिद्ध हुए पुरुषों में भी कोई दुर्लभ मनुष्य ही मुझे तत्त्वतः जानता है।"[2] विभिन्न श्रेणियों के हज़ारों मनुष्यों में से किसी एक दुर्लभ मनुष्य की आत्मतत्त्व, देहतत्त्व एवं परतत्त्व को जानने के लिए पारमार्थिक अनुभूति में पर्याप्त रुचि होती है। मानव-समाज साधारणतया आहार, निद्रा, मैथुन, भय आदि पाशविक वृत्तियों में मग्न है, दिव्यज्ञान के लिए प्रायः सभी में रुचि का अभाव है। "कुण्ठित प्राकृत इन्द्रियों से श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। भक्तों द्वारा समर्पित भक्ति से प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण स्वयं उनके हृदय में अपना तत्त्व प्रकाशित करते हैं।"[3] इस प्रकार भक्तों के लिए श्रीकृष्ण नित्य अनुग्रहशील है। इसी प्रकार उत्पलदेवाचार्य भी भगवान् शंकर द्वारा किये गए अनुग्रह में ही विश्वास करते हैं। आचार्य उत्पलदेव कहते हैं कि "हे स्वामी! आपकी अनुग्रह रूपिणी इच्छा से ही मैं अनन्य भक्त बन गया हूँ। इस विषय में (मल परिपाक आदि) अन्य साधनों का सामर्थ्य नहीं

---

1. "रागद्वेषान्धकारोऽपि येषां भक्तित्विषा जितः।
तेषां महीयसामग्रे कतमे ज्ञानशालिनः।।". –शिवस्तोत्रावली, 16/16
2. "मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः"।। –श्रीमद्भगवद्गीता, 7/3
3. "अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः।।"–पद्मपुराण

है। तो भी क्या बात है कि (मैं इस व्युत्थान में) आपके दर्शन नहीं कर पाता।"[1]

इससे यही लक्षित होता है कि उत्पलदेवाचार्य जन्म से ही भगवान् शंकर के अनुग्रह से शिव भक्त थे। शिवस्तोत्रावली एक अतुल्य ग्रन्थ है। इसके श्लोकों के श्रवण मात्र से मनुष्य पवित्र हो जाता है और श्रीकण्ठ धाम को प्राप्त हो जाता है।"[2]

ग्रन्थकार-परिचय

कश्मीर शैव दर्शन के रहस्यों एवं भगवान् शंकर के प्रति लिखे गए भक्ति-स्तोत्रों से परिपूर्ण शिवस्तोत्रावली के लेखक श्री उत्पलदेव आचार्य हैं। उत्पलदेवाचार्य का समय नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध रहा होगा[3]; ऐसा विद्वानों का कथन है। इनका निवास-स्थान श्रीनगर स्थित गुप्तपुर था।[4] आचार्य उत्पलदेव, आचार्य सोमानन्द के पुत्र एवं शिष्य हैं।[5] इसका आधार तन्त्रालोक में कथित 'सोमानन्दात्मजोत्पल:' यह वाक्य माना गया है। उत्पलदेव के पुत्र का नाम विभ्रमाकर था। विभ्रमाकर और ब्रह्मचारी परमानन्द की प्रार्थना पर ही उत्पलदेव ने सोमानन्द रचित शिवदृष्टि की वृत्ति लिखी थी।[6]

---

1. "भगवन्भवदिच्छयैव दासस्तव जातोऽस्मि परस्य नात्र शक्ति:।
   कथमेष तथापि वक्त्रबिम्बं तव पश्यामि न जातु चित्रमेतत्।।"
   —शिवस्तोत्रावली, 12/26
2. "सत्येव सूक्तिसरित: परित: सहस्रा:
   स्तोत्रावली सुरसरित् सदृशी न काचित्
   आकर्ण्य तीर्थमतिशय पुनाति पुंस:
   श्रीकण्ठनाथनगरीमुपकण्ठयन्ती।।" —शास्त्रपरमार्थ, श्लोक-8, पृ॰-103
3. डॉ॰ के॰ सी॰ पाण्डेय–"अभिनवगुप्त : ऐन हिस्टोरिक्ल एण्ड फिलोसॉफिकल स्टडी", पृष्ठ–162
4. "ईश्वरप्रत्यभिज्ञा" भाग-2, प्रस्तावना।
5. डॉ॰ के॰ सी॰ पाण्डेय "अभिनवगुप्त : ऐन हिस्टोरिक्ल एण्ड फिलोसॉफिकल .स्टडी", पृष्ठ–162
6. "विभ्रमाकरसंज्ञेन स्वपुत्रेणास्मि चोदित:।
   पद्मानन्दाभिधानेन तथा सब्रह्मचारिणा।।2।।
   ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्तविस्तरे गुरुनिर्मिते।
   शिवदृष्टिप्रकरणे करोमि पदसंगतिम्।।3।।" शिवदृष्टि, पृ॰–2

उत्पलदेवाचार्य की कृतियाँ–ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा वृत्ति, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा टीका, शिवस्तोत्रावली, अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि, ईश्वरसिद्धिवृत्ति, सम्बन्ध-सिद्धि, सम्बन्ध-सिद्धिवृत्ति तथा सोमानन्द की शिवदृष्टि पर वृत्ति हैं।[1] ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के प्रारम्भ में शैव-दर्शन के मूल सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय देकर बौद्धों के विज्ञानवाद का स्पष्ट विश्लेषण किया गया है। इसके पश्चात् इसी ग्रन्थ में आत्मा की वास्तविकता को सिद्ध किया गया है। फिर जगत् के एकमात्र आधार के रूप में भगवान् परम शिव की सत्ता को ठहराकर उनकी परिपूर्ण परमेश्वरता को सिद्ध किया गया है।[2] तदनन्तर इस परमेश्वर की क्रिया-शक्ति की अभिव्यक्ति का, उसके द्वारा क्रिया, सम्बन्ध, सामान्य, दिव्य, काल आदि पदार्थों के आभास का तथा प्रमातृ-प्रमेय भाव और कार्य-कारण-भाव का भी निरूपण करके छत्तीस तत्त्वों और सात प्रकार के प्रमातृ वर्गों की सृष्टि का संक्षिप्त निरूपण इस शास्त्र में किया गया है।[3] ईश्वरप्रत्यभिज्ञा से ही कश्मीर शैव दर्शन का नाम प्रत्यभिज्ञा दर्शन पड़ा।[4] इसके पश्चात् उत्पलदेवाचार्य ने सिद्धित्रयी अर्थात् अजडप्रमातृसिद्धि, सम्बन्ध-सिद्धि और ईश्वरसिद्धि की रचना की है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में जो कोई त्रुटि रह गई है, उसे आचार्य उत्पलदेव ने सिद्धित्रयी में पूरा किया है। इस ग्रन्थ में अन्तःकरणों से अतिरिक्त तत्त्व के रूप में आत्मा की सिद्धि का, ईश्वर और उसकी ईश्वरता की सिद्धि का तथा सम्बन्ध की सिद्धि का निरूपण सुन्दर और सारगर्भित युक्तियों के आधार पर किया गया है।[5]

आचार्य उत्पलदेव ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा एवं सिद्धित्रयी अर्थात् अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि एवं सम्बन्ध सिद्धि पर टीकाएँ लिखी हैं,

---

1. डॉ॰ के॰ सी॰ पाण्डेय "अभिनवगुप्त : ऐन हिस्टोरिक्ल एण्ड फिलोसॉफिकल स्टडी", पृष्ठ–162-164
2. बलजिनाथ पण्डित, "श्री कश्मीर शैव-दर्शन" पृ॰–28
3. –वही–
4. डॉ॰ के॰ सी॰ पाण्डेय "अभिनवगुप्त : ऐन हिस्टोरिक्ल एण्ड फिलोसॉफिकल स्टडी", पृष्ठ–163
5. बलजिनाथ पण्डित–"श्री काश्मीर शैव-दर्शन", पृ॰–28

जिन्हें 'वृत्ति' नाम दिया गया है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की वृत्ति पर उन्होंने एक विवृत्ति नाम की विस्तृत टीका भी लिखी थी, परन्तु अभी तक वह कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सकी है।[1] 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा पर आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा लिखी गयी विमर्शिनी नामक विस्तृत टीका ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा को कश्मीर शैव-दर्शन का अद्वितीय शास्त्र बना दिया है। इस ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी की जितनी प्रशंसा की जाए वह थोड़ी है। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार, "शेष दर्शन शास्त्र इसके सामने चिड़ियों की चहचहाहट से अधिक मूल्य नहीं रखते और शेष सभी शास्त्रों का समन्वय और आत्महित के लिए उनकी उपयोगिता इसी शास्त्र के द्वारा सिद्ध होते हैं।[2] आचार्य उत्पलदेव की अप्राप्य टीका पर भी आचार्य अभिनवगुप्त ने एक 'विवृति-विमर्शिनी' नामक विस्तृत टीका लिखी है।

इस प्रकार आचार्य उत्पलदेव एक उच्चकोटि के दार्शनिक और टीकाकार होने के साथ-साथ एक प्रभावशाली कवि भी थे, जिसका परिचय हमें शिवस्तोत्रावली नामक पद्यात्मक ग्रन्थ से मिलता है। शिवस्तोत्रावली भगवान् शंकर की स्तुति में लिखे गए भक्तिपूर्ण पद्यों का संग्रहात्मक ग्रन्थ है।

कृति का दार्शनिक मूल्यांकन

शिवस्तोत्रावली कश्मीर शैव-दर्शन की एक भक्तिपूर्ण रचना मानी जाती है। इसमें भगवान् शंकर की स्तुति की गई है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु इसमें न केवल भगवान् शंकर की स्तुति ही की गई है अपितु इसमें उत्पलदेव द्वारा अनुभव की गई परमशिव की अनुभूति (साक्षात्कार) का भी वर्णन है। आचार्य उत्पलदेव चूंकि कश्मीर

---

1. डॉ॰ के॰ सी॰ पाण्डेय "अभिनवगुप्त : ऐन हिस्टोरिक्ल एण्ड फिलोसॉफिकल स्टडी", पृष्ठ–163
2. "कल्पान्ताम्बुनिधेः प्रचण्डपवनप्रक्षोभितैर्वानल-
ज्वालाजालमिलत्तरंगवलनानश्यत्कुलक्ष्माभृतः।
भूयानप्यवगाहनाय प्रभवेन्नत्वीश्वराभिज्ञया।
निर्णीतस्य विधेर्विमर्शविषये शक्तः परः शंकरात्।।"
–ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी

शैव-दर्शन के अग्रणी दार्शनिक हैं, इसलिए इनकी यह रचना (शिवस्तोत्रावली) भी कश्मीर शैव-दर्शन के तथ्यों से अछूती न रही। इस रचना का अध्ययन करते समय जगह-जगह पर रचनाकार की दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रस्फुटित होती है।

शिवस्तोत्रावली के आरम्भ में ही कहे गये श्लोक से 'जिसको बिना ध्यान के, बिना जप के, विधि रहित रूप से, ऐसे ही (अनुपाय अर्थात् अनुग्रह से) प्रभु का प्रकाश प्राप्त हो, उस भक्ति-शील की हम स्तुति करते हैं"[1]—अनुपाय की ओर संकेत मिलता है। अनुपाय एक दार्शनिक शब्द है और इसका लक्षण है—अनुपाय सर्वथा अनुग्रह पर आश्रित है। 'शिष्य गुरु के अनुग्रह से, उसके दृष्टिपात् से, उसके हस्तस्पर्श से, उसके हाथ से दिए हुए किसी भोज्य पदार्थ के खाने से, या इसी प्रकार के किसी अन्य हेतुमात्र से ही बिना किसी योग का अभ्यास किए, ऐसे ही शिवभाव के समावेश का अनुभव कर जाता है।"[2] "फिर उस समावेश के पुनः पुनः अभ्यास से उसको अपने शिवभाव का संस्कार इतना पक्का हो जाता है कि सांसारिक व्यवहार को करते हुए भी उसे शिवभाव के विमर्श का चमत्कार दिन-रात अनुभूत होता रहता है। इस प्रकार के समावेश को अनुपाय समावेश कहते हैं।"[3] इस अनुपाय समावेश से ही जीव उत्कृष्ट जीवन-मुक्ति का पात्र बन जाता है। अनुपाय को साधारणतः आनन्दोपाय कहा जाता है। यही अनुपाय समावेश पूरी शिवस्तोत्रावली में भक्ति-रूप में सर्वत्र व्याप्त है।

---

1. "न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्।।" —शिवस्तोत्रावली, 1/1
2. "सिद्धानां योगिनीनां च दर्शनं चरुभोजनम्।
कथनं संक्रमः शास्त्रे साधनं गुरुसेवनम्।
इत्याद्यो निरुपायस्य संक्षेपोऽयं वरानने।।"
तन्त्रालोक आह्निक 2, पृ॰-2
3. "उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत् प्रसादतः।
स एवाहं स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपकः।।
इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं सकृत् केचन निश्चिताः।
विना भूयोऽनुसन्धानं भान्ति संविन्मयाः स्थिताः।।" —तन्त्रालोक आह्निक 2, पृ॰-3

अनुपाय अर्थात् शिव का जीव पर अनुग्रह, परन्तु यदि जीव पर अनुग्रह न हो तो आत्म-साक्षात्कार कैसे होगा? इसके लिए कश्मीर शैव-दर्शन में तीन उपाय बताये गये हैं–आणव, शाक्त और शाम्भव। ये तीनों क्रमशः जीव के शारीरिक, मानसिक एवं इच्छा-शक्ति के अनुरूप होते हैं।

इसके पश्चात् निम्न उदाहरणों से समाधियों की ओर संकेत मिलता है। उत्पलदेवाचार्य कहते हैं, 'हे भगवान्! कई (निमीलन समाधिनिष्ठ योगी) संसार रूपी सभा के बाहर (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं को छोड़कर तुरीय अवस्था में आँखें बन्द करके) आपका आलिंगन करते हैं, किन्तु दूसरे (उन्मीलन समाधिनिष्ठ योगी) विवश होकर (आपके गाढ़ अनुराग से) और ध्यान आदि सभी नियमों के कष्ट को छोड़कर वहीं (संसार रूपी सभा में) ही (प्रकट रूप में संसार के व्यवहार में लगे हुए और बिना आँखें बन्द किये आप में लय होते हैं।"[1] इस प्रकार से समाधि के दोनों रूपों को यहाँ दर्शाया गया है–निमीलन समाधि वह है, जिसमें योगी आँखें बन्द करके सभी इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके आत्मसुख का अनुभव करता है। उन्मीलन समाधि जिसमें आँखें बन्द करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। उत्पलदेवाचार्य के इस कथन से, 'हे स्वामी! जानने योग्य पदार्थों के नष्ट होने पर अकेले ठहरे हुए आप किसी पुरुष से नहीं देखे जा सकते हैं? किन्तु आश्चर्य तो यह है कि ज्ञेय और ज्ञाता-भाव की संक्षुभित अवस्था (व्युत्थान) में भी आप भक्तजनों को सहज में ही दिखाई देते हैं।'[2] लगता है कि वे निमीलन समाधि की निन्दा करते हैं, क्योंकि निमीलन समाधिनिष्ठ योगी को कोई व्याकुल नहीं कर सकता है, अतः उसका समाधिनिष्ठ होना कोई बड़ी बात नहीं है। इसके विपरीत उन्मीलन-समाधिनिष्ठ योगी की साधना कठिन है, जो ज्ञेय और ज्ञातृभाव की संक्षुभित अवस्था (अर्थात् लोक मार्ग) में भी समाधिनिष्ठ होती है।

---

1. "संसारसदसो बाह्ये कैश्चित्त्वं परिरभ्यसे।
स्वामिन्परैस्तु तत्रैव ताम्यद्भिरस्त्यक्तयन्त्रणैः।।" –शिवस्तोत्रावली, 16/28
2. "नाथ वेद्यक्षये केन न दृश्योऽस्येककः स्थितः।
वेद्यवेदकसंक्षोभेऽप्यसि भक्तैः सुदर्शनः।।" –वही, 1/8

स्वरूप-साक्षात्कार अनुभव करने के मार्ग में सात अवस्थाएँ होती हैं जो शिव तत्त्व से सकल तत्त्व तक होती हैं। पहली चार अवस्थाएँ अर्थात् शिव, सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या, विद्या नामक पथ का प्रतिनिधित्व करती है। अविद्या नामक दूसरे पथ का प्रतिनिधित्व विज्ञानाकल, प्रलयाकल एवं साकल नामक अवस्थाएँ करती हैं। इन्हीं विद्या एवं अविद्या पथों का उल्लेख यहाँ मिलता है, 'आपकी भक्तिरूपिणी अध्यात्म-विद्या जिन पुरुषों के अभ्यास में आई हो, वे ही तो विद्या तथा अविद्या दोनों का ही सार-भूत तत्त्व जानने वाले होते हैं।'[1] इसके अतिरिक्त "मूल (परावाक् भूमि) से क्रम के (पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूपी) विकास से सुशोभित बनी हुई वही यह वाणीरूपिणी लता मेरे लिए आपकी भक्ति रूपी अमृत से सींची हुई तथा उस (भक्ति के आनन्द) के रस रूपी बड़े फलों वाली हो।'[2] इस कथन से वाणी और उसकी चार अवस्थाओं अर्थात् परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी की ओर उत्पलदेवाचार्य का संकेत स्पष्ट दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों का उल्लेख भी बहुत सी जगहों पर मिलता है। जैसे, "हे प्रभु! अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त करके और सभी दुःखों से मुक्त तथा भय से मुक्त हुआ, ऐसा मैं कब आपकी भक्ति रूपी रसायन का पान करने की क्रीड़ा में लीन बना रहूँ।"[3]

तुर्या दशा अर्थात् 'वास्तविक आत्म-साक्षात्कार की आनन्दमयी दशा का भी उल्लेख मिलता है। तुर्या-दशा का विज्ञानाकल से आरम्भ होकर अकल प्राणी तक उत्तरोत्तर विकास होता है।' उत्पलदेवाचार्य ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वे सदा तुर्यावस्था में ही रहें। कहते भी हैं–"हे स्वामी! घट, पट आदि वस्तु वर्ग से भी, इन्द्रियों के समूह में से भी और चित्-प्रकाश रूपी तुर्यावस्था आपसे आप ही प्रकट बने हुए,

---

1. "भवद्भक्तिमहाविद्या येषामभ्यासमागता।
विद्याविद्योभयस्यापि त एते तत्त्ववेदिनः॥" –वही,1/12
2. "आमूलाद्वाग्लता सेयं क्रमविस्फारशालिनी।
त्वद्भक्तिसुधया सिक्ता तद्रसाढ्यफलास्तु मे॥"–वही, 1/13
3. "लब्धाणिमादिसिद्धिर्विगलितसकलोपतापसन्त्रासः।
त्वद्भक्तिरसायनपानक्रीडानिष्ठः कदासीय॥"–वही, 9/18

आपके स्वरूप को मैं सदा भेद–भाव को तिलाञ्जलि देकर, सर्वदा अर्थात् व्युत्थान में भी देखता रहूँ।[1] प्रस्तुत कथन में, 'इन्द्रिय' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उससे ग्रन्थकार का संकेत पञ्च ज्ञानेन्द्रियों और पञ्च कर्मेन्द्रियों की ओर है। "शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध विषयों को ग्रहण करने के साधन, क्रमपूर्वक कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका– ये पाँच ज्ञानेन्द्रियां हैं। बोलना, ग्रहण करना, विहार करना, मल आदि त्यागना और विषय-आनन्द रूप क्रियाओं के साधन क्रमपूर्वक वाणी, हाथ, पाँव, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियां कहलाती हैं।"[2] इन्द्रियों द्वारा किया जाने वाला व्यवहार सामान्य लोगों की दशा में अध्यात्म मार्ग में बड़ी बाधा डालता है, ऐसा इन्द्रियों के विषय में कहा जाता है। इस तथ्य को उत्पलदेवाचार्य भी मानते हैं, "हे नाथ! इन्द्रियों का व्यवहार स्वभाव से ही चंचल होता है। किन्तु आपके भक्त–जन जब समावेश के आनन्द को प्राप्त करते हैं तो उनके लिए वही इन्द्रियों का व्यवहार आपके समान ही अचंचल और ज्ञानस्वरूप बन जाता है।"[3]

मल अज्ञान को कहते हैं।[4] शैव–दर्शन में अज्ञान ज्ञान के अभाव को न कहते हुए अधूरे संकुचित ज्ञान को ही कहते हैं। तो फलतः ज्ञान–संकोच ही मल होता है।[5] इस मल के तीन प्रकार माने गये

---

1. "अपि भावगणादपीन्द्रियप्रचयादप्यवबोधमध्यतः।
प्रभवन्तमपि स्वतः सदा परिपश्येयमपोढविश्वकम्।।" –वही, 12/2
2. "शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानां विषयाणां क्रमेण ग्रहणसाधनानि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि पञ्चज्ञानेन्द्रियानि। वचनादानविहरणविसर्गानन्दात्मक्रियासाधनानि परिपाट्या वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पंच कर्मेन्द्रियाणि।"–क्षेमराज विरचिता 'पराप्रवेशिका' के पृष्ठ-1। से उद्धृत।
3. "आमनोऽक्षवलयस्य वृत्तयः सर्वतः शिथिलवृत्तयोऽपि ताः।
त्वामवाप्य दृढदीर्घसंविदो नाथ भक्तिधनसोष्मणां कथम्।।" –शिवस्तोत्रावली, 18/17
4. "मलमज्ञानमिच्छान्ति संसाराङ्कुरकारणम्।"
मालिनीविजयतन्त्र, 1/23
5. "अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसङ्गतः।
स हि लोष्टादिकेऽप्यस्ति न च तस्यास्ति संसृतिः।
अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम्।
ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम्।।" तन्त्रालोक, 1/25, 26

हैं–आणव-मल, मायीय-मल और कर्म-मल। आणव-मल वह है, जिससे जीव को अपने स्वरूप में अपूर्णता का आभास होता है, मायीय मल से उसे भिन्न-वेद्य प्रथा होती है और कार्म-मल से उसको शुभ वासना तथा अशुभ-वासनाओं का प्रादुर्भाव होता है।" इन मलों का उल्लेख करते हुए उत्पलदेवाचार्य कहते हैं कि "इन तीन मलों को दूर करने वाले अद्वैत-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ और उन शास्त्रों के पारंगत, योगी तथा ज्ञानी इस संसार में बहुत मिलते हैं, किन्तु आपके भक्त ही वास्तव में सबसे बुद्धिमान् एवं सुखी होते हैं।[1]

इन मलों की उत्पत्ति का कारण (माया से उत्पन्न) विद्या, राग, काल, कला, नियति आदि पञ्चकंचुक माने जाते हैं।[2] इन पञ्चकंचुकों से ऊपर उठे हुए भक्तों की प्रशंसा करते हुए उत्पलदेवाचार्य कहते हैं–"हे प्रभु! माया सम्बन्धी काल, नियति और राग आदि का ग्रास करने से तृप्त बने हुए आपके भक्त जन इस जगत् रूपी समुद्र के तट पर सुखी होकर विहार करते हैं अर्थात् उनको अपूर्णता का सर्वथा अभाव होने से पूर्णता मय-स्थिति प्राप्त होती है।"[3]

सृष्टि की अभिव्यक्ति एवं प्रलय का क्रम शिव और शक्ति, प्रकाश और विमर्श का प्रसार और संकोच है। चैतन्य की अभिव्यक्ति के ये विभिन्न रूप छत्तीस वर्गों या तत्त्वों में वर्णित हैं। ये तत्त्व परमतत्व की अभिव्यक्ति मात्र हैं।[4] सृष्टि-क्रम के ये छत्तीस तत्त्व इस प्रकार हैं–शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वचा, चक्षु,

---

1. "त्रिमलक्षालिनो ग्रन्था: सन्ति तत्पारगास्तथा।
योगिन: पण्डिता: स्वस्थास्त्वद्भक्ता एव तत्त्वत:।।" –शिवस्तोत्रावली, 15/1
2. "मायापरिग्रहवशाद् बोधो मालिन: पुमान् पशुर्भवति।
कालकलानियतिवशाद् रागाविद्यावशेन सम्बद्ध।।"–परमार्थसार, 16
3. "मायीयकालनियतिरागाद्याहारतर्पिता:।
चरन्ति सुखिनो नाथ भक्तिमन्तो जगत्तटे।।" –शिवस्तोत्रावली, 15/2
4. डॉ॰ कैलाशपति मिश्र–"कश्मीर शैव-दर्शन" (मूल सिद्धान्त), पृ॰–119

जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, वह्नि, सलिल और भूमि।[1] उत्पलदेवाचार्य इन्हीं छत्तीस तत्त्वों के कर्मों से परमात्मा के प्रकाश स्वरूप में बैठकर उनको (प्रभु को) सदा पूजना चाहते हैं।[2] इसके अतिरिक्त उत्पलदेव प्रभु की (समावेशमयी) पूजा के बड़े उत्सव की जय-जयकार करते हैं, जिसमें इन छत्तीस तत्त्वों का आवेग भी पूर्ण रूप में चमक उठता है।[3]

इस प्रकार शिवस्तोत्रावली में दार्शनिक तथ्यों का प्राचुर्य है। यह दार्शनिकता से ओत-प्रोत है। अनुभूति की प्रधानता के कारण इस दार्शनिकता को सरस रूप में ग्रहण किया जाता है। अतः भक्ति और दर्शन का जैसा सामंजस्य इस ग्रन्थ में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

---

1. "षट्त्रिंशत्तत्त्वानि च,-शिवशक्तिसदाशिवईश्वरशुद्धविद्यामायाकलाविद्यारागकालनियति-पुरुषप्रकृतिबुद्धि-अहंकारमनः श्रोत्रत्वक्-चक्षु-जिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायु-उपस्थशब्दस्पर्श-रूपरस-गन्ध-आकाशवायुवह्निसलिलभूमयः इत्येतानि।" -पराप्रावेशिका, पृ०-6
2. "त्वद्धाम्नि चिन्मये स्थित्वा षट्त्रिंशत्तत्त्वकर्मभिः।
कायवाक्चित्तचेष्टाद्यैरर्चये त्वां सदा विभो।।" -शिवस्तोत्रावली, 17/11
3. "कोऽप्यसौ जयति स्वामिन्भवत्पूजामहोत्सवः।
षट्त्रिंशतोऽपि तत्त्वानां क्षोभो यत्रोल्लसन्त्यलम्।।"-वही, 17/30

द्वितीय अध्याय

भक्ति : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

वेदों में भक्ति :

मानवता की आद्य बौद्धिक कृति के रूप में वेदों की प्रतिष्ठा तर्क-वितर्क से परे है। इनके महत्त्व को रेखांकित करने हेतु यूनेस्को ने इन्हें "मानवता की अमूर्त्त धरोहर" घोषित किया है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति वैदिक वाङ्मय के प्रश्रय में ही पल्लवित एवं पुष्पित हुई। भारतीय मनीषा के चिन्तन की पराकाष्ठा स्वरूप हमारे वैदिक वाङ्मय ने, आने वाली पीढ़ियों के लिए एक ऐसा पुष्ट धरातल प्रदान किया है जिससे हिन्दू धर्म की विभिन्न शाखाएँ-प्रशाखाएँ अपने-आप को दृढ़तापूर्वक अभिव्यक्त कर पाईं। वेदों के विस्तृत पटल पर हिन्दू धर्म के अनेक सम्प्रदाय, मार्ग तथा मत-मतान्तर अङ्कित होते गए तथा इस पटल को अपने-अपने रंगों से सजाते गए। समस्त भारतीय चिन्तन के बीज इसी वैदिक वाङ्मय में निहित हैं, ऐसा कहना कदापि अतिशयोक्ति नहीं।

भारतवर्ष में भक्ति की अवधारणा उपर्युक्त कथन का अपवाद नहीं है। यद्यपि वेदों में भक्ति का स्वरूप बिल्कुल भिन्न है क्योंकि वेदों में आराध्य, आराधक की प्रकृति सर्वथा भिन्न है। भक्ति शब्द √भज्+क्तिन् से बना है और इसका अर्थ है-सेवा, वेद भक्ति नहीं अपितु उसके पूर्ववर्त्ती भाव श्रद्धा की बात करते हैं। ऋग्वेद कहता है-हे श्रद्धे! तू हमें श्रद्धावान् बना"[1] इस कथन के द्वारा श्रद्धा को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया है। श्रद्धा के द्वारा सत्य की प्राप्ति होती है[2]-इस वाक्यद्वारा

1. "श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।" ऋग्वेद 10/151/5
2. "श्रद्धया सत्यमाप्यते।" शुक्ल यजुर्वेद 19/30

भी श्रद्धा की आवश्यकता तथा साफल्य के विषय में कहा गया है। "जो भूत, भविष्य, वर्तमान कालिक समस्त जगत् का नियन्ता है, केवल स्वः ही जिसका स्वरूप है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है।"[1] "उसे सायंकाल नमस्कार हो, प्रात:काल नमस्कार हो, रात्रि में नमस्कार हो तथा दिवस में नमस्कार हो, भक्ति-भाव से भरी हमारी बुद्धि, वृत्तियाँ सर्वदा झुकी रहा करें।[2] अथर्ववेद[3] में इसके अतिरिक्त 'भक्ति' शब्द का स्पष्ट रूप में प्रयोग हुआ है।

वैदिक काल में प्राकृतिक शक्तियों की प्रतीक रूप में उपासना की जाती थी, अर्थात् प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों को दैवी रूप प्रदान किया गया था। इस प्रकार उनकी उपासना हेतु बहुत से मन्त्रों का सृजन भी किया। ऋग्वेद में देवताओं के तीन वर्गों का उल्लेख है-दिव्य देवता, अन्तरिक्ष देवता और पृथ्वी देवता। द्युस्थान के दिव्य देवताओं में वरुण, मित्र, सूर्य आदि, अन्तरिक्ष देवताओं में इन्द्र, रुद्र आदि तथा पार्थिव देवताओं में नदियाँ, अग्नि, सोम आदि प्रधान हैं। वैदिक देवता निराकार होते हुए भी निर्गुण और सगुण द्विविध रूप वाले हैं। प्रकृति और जीव के गुणों से ऊपर होने के कारण वे निर्गुण और अपने स्वाभाविक गुणों से युक्त होने के कारण वे सगुण हैं।

ऋग्वेद में एकदेववाद का स्पष्ट वर्णन हमें मिलता है। भारतीय ऋषियों का एकेश्वर-वाद में अखण्ड विश्वास था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में सभी देवताओं को एक ही ब्रह्म के भिन्न-भिन्न रूप में कहा गया है।[4] एक ऋचा में समस्त संसार को ब्रह्म का एक ही रूप (शरीर) माना गया

---

1. "ॐ यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।।"-अथर्ववेद 10/8/1
2. "ॐ नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः।।" अथर्ववेद 11/2/16
3. "देव संस्फान! सहस्रा पोषस्येशिषे। तस्य नो रास्व,
तस्य नो धेहि, तस्य ते भक्तिवांसः स्याम।।"-अथर्ववेद 6/79/3
4. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।। -ऋग्वेद 1/164/46

है।[1] इसी प्रकार एक सूक्त में प्रजापति की सर्वव्यापक महिमा का वर्णन है।[2] नासदीय सूक्त[3] में सर्व-व्यापक एवं सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की जगत्-कारणता का भी सांगोपांग विवेचन-विश्लेषण किया गया है।

देवपूजन के साथ-साथ वैदिक काल में यज्ञ भी होते थे। यज्ञ-सम्पादन के लिए भी वैदिक मन्त्रों की रचना हुई। यज्ञों तथा संस्कारों का साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान था। यज्ञ के समय देवताओं का समूहों में आह्वान होता है। वेदों से यह धारणा भी मिलती है कि वैदिक देवता यज्ञ न करने वालों पर कुपित होते थे। इस प्रकार से इस अनुष्ठान का भी वैदिक भक्ति में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वैदिक साहित्य में 'रुद्र' शिव का एक नाम है और वह उनके एक रूप मात्र का प्रतीक है, पूर्ण रूप का नहीं। ऋग्वेद में विस्तार पूर्वक रुद्र का स्तवन किया गया है। ऋग्वेद के पंचम मण्डल में रुद्र और प्रकृति के रूप में स्पष्टत: शिव और उनकी शक्ति का परमेश्वरत्व स्वीकार किया गया है। ऋषि कहता है-"हम सब ज्येष्ठ, कनिष्ठ, लघु, उच्च के भेद से रहित हैं। हम सब मिलकर सौभाग्य के लिए उन्नतिशील हों। कल्याणकारी श्रेष्ठकर्मा रुद्र परमेश्वर हम सबके पिता हैं तथा सबको सुख देने वाली, सुन्दर दूध पिलाकर पोषण करने वाली प्रकृति हम सबकी माँ हैं।[4] यजुर्वेद में "शिव" नाम से उस परमेश्वर की स्तुति की गई है।[5]

उपनिषदों में भक्ति

भारतीय साहित्य में वेदों के पश्चात् उपनिषद् ग्रन्थों का आविर्भाव हुआ है। उपनिषद् साहित्य में हम मानव चेतना का सर्वोच्च

---

1. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
   उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।। ऋग्वेद 10/90/2
2. ऋग्वेद के दशम मण्डल के 21वें सूक्त के पूरे आठों मन्त्रों में।
3. ऋग्वेद 10/129
4. "अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधु: सौभगाय।
   युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्नि: सुदिना मरुद्भ्य:।।" ऋग्वेद 5/60/5
5. "ॐ नम: शम्भवाय च मयोभवाय च
   नम: शंकराय च मयस्कराय च
   नम: शिवाय च शिवतराय च।।" यजुर्वेद 16/1-66

फल पाते हैं।[1] उपनिषद् ज्ञान, भक्ति तथा कर्म की त्रिवेणी का संगम हैं। उपनिषद् में हम केवल भक्ति शब्द ही नहीं, अपितु उसको आधुनिक अर्थ में भी प्रयुक्त पाते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में "जिसकी ईश्वर में परमभक्ति है और ईश्वर में जैसी भक्ति है वैसी ही गुरु में भी है, उसके हृदय में ही ये बताए हुए रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं।"[2] इस वाक्य में भक्ति का आधुनिक अर्थ में प्रयोग हुआ है। प्रभु-भक्ति रसपूर्ण होती है। इसी भक्ति रस की अजस्त्र धारा उपनिषदों में प्रवाहित होती है। छान्दोग्य उपनिषद् में इसकी पुष्टि प्राप्य है-'प्रभु भक्ति सबसे उत्कृष्ट और सर्वोत्तम रस है।'[3] अन्य उपनिषदों के निम्न वचनों में भी भक्ति भाव का रस दृष्टिगोचर होता है। 'वह ब्रह्म भजनीय होने के कारण उपासना करने योग्य है।[4] सूर्य ही ब्रह्म है अत: उसकी उपासना करें।[5] 'मोक्ष की प्राप्ति के लिए मैं आपकी शरण लेता हूँ।[6] तथा 'उपनिषद् उक्त धनुष ग्रहण करके उस पर शर को योजित करें। पहले से ही उपासना के द्वारा उस शर को तेज़ धार वाला बना लें। ब्रह्म में तन्मयता युक्त अन्त:करण के द्वारा उस धनुष को आकर्षित करें और उसका लक्ष्य अक्षर ब्रह्म को ही जानें।[7] तैत्तिरीय उपनिषद् में भी प्रभु को रस रूप बतलाकर उसको प्राप्त करके आनन्दमय हो जाने का उपदेश मिलता है।[8] इस प्रकार उपनिषदों में भक्ति-भावना का सूक्ष्म रूप दिखाई देता है। भक्त समाधि में बैठकर प्रभु के परम आनन्द की अनुभूति

---

1. "Personally I regard the Upanishads as the highest product of the human mind, the crystallised wisdom of divinely illumined man"—Annie Besant quoted by Vachaspati Garola in Sanskrit Sahitya Ka Itihas, Page 160.
2. "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
   तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन:।।"-श्वेताश्वतर उपनिषद् 6/23
3. "स एव रसनां रसतम: परम: परार्धे।"-छान्दोग्य उपनिषद्
4. तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति।।-केनोपनिषद् 4/6
5. "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत्। -छान्दोग्य उपनिषद् 3/19/1"
6. "मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये"। श्वेताश्वतर उपनिषद् 6/18
7. "धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत।
   आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि।।"
   मुण्डकोपनिषद् 2/2/3
8. यद्वै तत्सुकृतं। रसो वै स:। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।-तैत्तिरीयोपनिषद् 2/7

करना चाहता है।[1] उपासक प्रभु में इतना तन्मय हो जाता है कि वह उसको छोड़कर किसी अन्य को नहीं देख पाता। 'ब्रह्म के साथ तन्मय हो जाने के इच्छुक उपासक को बालक भाव से रहकर उसकी कृपा का पात्र बन जाना चाहिए। कोई भी केवल बुद्धि से या व्याख्यान सुनने से प्रभु की प्राप्ति का अधिकारी नहीं बन जाता है। प्रभु जिसे स्वीकार करता है वही उससे तन्मय हो सकता है।[2] साधक का शरीर असल में प्रभु का मन्दिर है। मुख्यत: उपनिषद्-साहित्य में उस परमात्मा पर बल दिया गया है जो सर्वशक्तिमान्, निस्सीम, शाश्वत, अपरिमेय, स्वयंभू, समस्त विश्व का स्रष्टा, संरक्षक एवं संहारक होकर विराजमान है। वही संसार का प्रकाश, प्रभु और त्राता है। वह स्तुत्य, परम श्रद्धेय एवं आराधना का केन्द्र बिन्दु है।[3] उपनिषद्-ग्रन्थों के प्रगतिशील विचारकों ने शिव को परम ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है। भगवान् शिव को सर्वव्यापक बताते हुए कहा गया है कि "समस्त मुख, शिर और ग्रीवाएँ भगवान् शिव की हैं। वे समस्त प्राणियों के अन्त:करण में स्थित हैं और सर्वव्यापी हैं। अत: शिव सर्वगत हैं।"[4] माण्डूक्योपनिषद् "अन्त: प्रज्ञ:"[5] तथा "अमात्रश्चतुर्थ:" आदि मंत्रों में शिव को निर्गुण-तुरीय ब्रह्म की उपाधि देता है। वेदों और उपनिषदों के समस्त ज्ञान को सार रूप में प्रस्तुत करने वाले इस अथर्ववेदीय उपनिषद्[6] में आदि से अन्त एक शिव-तत्त्व निर्णीत है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् भी स्पष्ट शब्दों में शिव के पूर्ण ब्रह्मत्व की घोषणा करता है।[7] इसमें शिव को परमात्मा, स्रष्टा तथा योगियों के

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 7/25/2
2. मुण्डक उपनिषद्, 3/2/3
3. "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
   अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।।"–मुण्डक उपनिषद् 2/2/11
4. "सर्वाननशिरोग्रीव: सर्वभूतगुहाशय:।
   सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगत: शिव:।।" ेताश्वतर उपनिषद् 3/11
5. माण्डूक्योपनिषद् 4
6. "अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्य: प्रपञ्चोपशम: शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव
   संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद यास एवं वेद।" –माण्डूक्योपनिषद् आ०प्र० 12
7. "एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य, इमाँल्लोकानीशत ईशनीभि:
   प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले,
   संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपा:।।" श्वेताश्वतर उपनिषद् 3/2

ध्यान का विषय बताया गया है।[1] इस प्रकार उपनिषद्-काल में शैवोपासना का पर्याप्त विकास हुआ था। इस समय तक जन-साधारण के धार्मिक जीवन में भक्ति की परिपाटी का प्रारम्भ हो चुका था।

ऐतिहासिक महाकाव्यों में भक्ति

भक्ति-भावना का पर्याप्त विकास रामायण एवं महाभारत में स्पष्ट लक्षित है। दोनों ऐतिहासिक महाकाव्य प्राचीन युग की सभ्यता के अभिलेख तथा संस्कृति के प्रमाण हैं।

आदिकवि वाल्मीकि की रामायण में भगवान् रामचन्द्र को मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित किया गया है। वे प्रायः आदर्श पुरुष के रूप में ही सामने आते हैं। किन्तु कहीं-कहीं वे नारायण भी माने गये हैं। सीता जी की अग्निपरीक्षा के प्रसंग में भगवान् रामचन्द्र देवताओं के समूह से पूछते हैं 'देवगण! मैं तो अपने को मनुष्य दशरथपुत्र राम ही समझता हूँ। भगवान्! मैं जो हूँ और जहाँ से आया हूँ, वह सब आप ही मुझे बताइये।'[2] इस पर ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ब्रह्मा ने उनसे कहा, "आप चक्र धारण करने वाले सर्वसमर्थ श्रीमान् नारायणदेव हैं, एक दाढ़वाले पृथ्वीधारी वराह हैं तथा देवताओं के भूत एवं भावी शत्रुओं को जीतने वाले हैं।"[3] उत्तरकाण्ड में राम को भगवान् विष्णु माना गया है, "प्रभो! वही यह वेदवती महाराज जनक की पुत्री के रूप में प्रादुर्भूत हो आपकी पत्नी हुई है। महाबाहो! आप ही सनातन विष्णु हैं।"[4] रावण का वध करने के पश्चात् रामचन्द्र के अनुरोध पर इन्द्र युद्ध में मरे वानरों को जीवित करते हैं। इससे रामचन्द्र प्रसन्न होते हैं। श्रीरामचन्द्र को सफल मनोरथ हुआ देख समस्त श्रेष्ठ देवता अत्यन्त प्रसन्न हो लक्ष्मण सहित

---

1. यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।।–श्वेताश्वतर उपनिषद् 3/4
2. आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्।
सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे।। –वा॰ रामा॰ युद्धकाण्ड, 117/11
3. "भवान् नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित्।।"–वा॰ रामा॰ युद्धकाण्ड 117/12
4. "सैषा जनकराजस्य प्रसूता तनया प्रभो।
तव भार्या महाबाहो! विष्णुस्त्वं हि सनातनः।।"–वा॰ रामा॰ उत्तरकाण्ड 17/34

श्रीराम की स्तुति करते हुए कहते हैं, 'राजन्! अब आप यहाँ से अयोध्या को पधारें और समस्त वानरों को विदा कर दें।'[1] इसी प्रसंग में देवतागण राम से कहते हैं, "परंतप! आप महात्मा शत्रुघ्न से और समस्त माताओं से भी जाकर मिलें, अपना अभिषेक करावें और पुरवासियों को हर्ष प्रदान करें।"[2]

वानरों, रीछों तथा राक्षसों की विदाई के समय उनकी श्रीराम के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति स्पष्ट दिखाई देती है। "श्रीरामचन्द्र के वचन सुनकर रीछों, वानरों और राक्षसों ने 'धन्य-धन्य' कहकर उनकी बार-बार प्रशंसा की। वे बोले, 'महाबाहु श्रीराम! स्वयम्भू ब्रह्मा के समान आपके स्वभाव में सदा परम मधुरता रहती है। आपकी बुद्धि और पराक्रम अद्भुत हैं।"[3] भगवान् रामचन्द्र के प्रति कपियों में श्रेष्ठ हनुमान् की निर्लोभ भक्ति का प्रमाण हमें हनुमान् के इन वचनों से प्राप्त होता है, "महाराज! आपके प्रति मेरा महान् स्नेह सदा बना रहे। वीर! आपमें ही मेरी निश्चल भक्ति रहे। आपके सिवा और कहीं मेरा आन्तरिक अनुराग न हो। वीर श्रीराम! इस पृथ्वी पर जब तक राम-कथा प्रचलित रहे, तब तक निःसन्देह मेरे प्राण इस शरीर में ही बसे रहें। रघुकुलनन्दन नरश्रेष्ठ श्रीराम! आपका जो यह दिव्य चरित्र और कथा है, इसे अप्सराएँ मुझे गाकर सुनाया करें।"[4] इसके अतिरिक्त हनुमान् भक्तिपूर्वक रामचन्द्र से कहते हैं, "वीर प्रभो! आपके रस चरितामृत को सुनकर मैं अपनी

---

1. "अब्रुवन् परमप्रीताः स्तुत्वा रामं सलक्ष्मणम्।
गच्छायोध्यामितो राजन् विसर्जय च वानरान्।।"–वा॰ राम॰ युद्धकाण्ड 120/19
2. "शत्रुघ्नं च महात्मानं मातृः सर्वाः परंतप।
अभिषेचय चात्मानं पौरान् गत्वा प्रहर्षय।।"–वही 120/21
3. "रामस्य भाषितं श्रुत्वा ऋक्षवानरराक्षसाः।
साधुसाध्विति काकुत्स्थं प्रशशंसुः पुनः पुनः।।
तव बुद्धिर्महाबाहो वीर्यमद्भुतमेव च।
माधुर्यं परमं राम स्वयम्भोरिव नित्यदा।। –वही॰ उत्तरकाण्ड अध्याय 40/13,14
4. "स्नेहो मे परमो राजस्त्वयि तिष्ठतु नित्यदा।
भक्तिश्च नियता क्षीरभावो नान्यत्र गच्छतु।।
यावद् रामकथा वीर चरिष्यति महीतले।
तावच्छरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न संशयः।।
यच्चैतच्चरितं दिव्यं कथा ते रघुनन्दन!
तन्ममाप्सरसो राम श्रावयेयुर्नरर्षभ।।"–वही 40/16,17,19

उत्कण्ठा को उसी तरह दूर करता रहूंगा जैसे वायु बादलों की पंक्ति को उड़ाकर दूर ले जाती है"।[1] इस प्रकार हनुमान् राम से तीन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उन्हें शुभाशीर्वाद भी प्रदान करते हैं। वाल्मीकीय रामायण में विभीषण की राम-भक्ति का भी उल्लेख है। युद्धकाण्ड में विभीषण की शरणागति के समय राम द्वारा कथित– "जो एक बार भी शरण में आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे रक्षा की प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियों से अभय कर देता हूँ। यह मेरा सदा के लिए व्रत है।"[2] –वचन सचमुच शरणागति के प्रामाणिक मंत्र के रूप में मान्य है। लक्ष्मण की अपने अग्रज के प्रति आदर एवं भक्ति भी प्रसिद्ध ही है। वाल्मीकि-रामायण में स्पष्ट शब्दों में यहाँ तक कहा गया है कि राम की भक्ति एवं स्तुति करने से मनुष्यों की सभी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में तो भक्ति का सर्वोत्तम रूप लक्षित होता है जब भगवान् रामचन्द्र भाइयों सहित विष्णु रूप में प्रवेश करने के लिए जाते हैं, तब "रीछ, वानर, राक्षस और पुरवासी मनुष्य भी बड़ी भक्ति के साथ श्रीरामचन्द्र के पीछे-पीछे एकाग्रचित् होकर चले आ रहे थे। उस समय उस अयोध्या में सांस लेने वाला कोई छोटे-से-छोटा प्राणी भी रह गया हो, ऐसा नहीं देखा जाता था। तिर्यग्योनि के समस्त जीव भी श्रीराम में भक्ति-भाव रखकर उनके पीछे-पीछे चले जा रहे थे।"[3]

इस प्रकार इस ग्रन्थ में भक्ति को न केवल उच्चतम स्थान प्रदान किया गया है, अपितु राम-भक्ति ही इस ग्रन्थ का आधार है।

महाभारत भारत के महान् मनस्वियों के द्वारा युग-युगों से सुचिन्तित जीवन की सर्वांगीण व्याख्या है। अत: तत्कालीन भक्ति तथा उसके सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन भी उसमें मिलता है। महाभारत का कथानक पहले केवल वीर-गीतों के रूप में ही प्रचलित था। वेद व्यास

---

1. "तच्छ्रुत्वाहं ततो वीर तव चर्चामृतं प्रभो।
उत्कण्ठां तां हरिष्यामि मेघलेखामिवानिल:।।"–वा॰ रामा॰ उत्तरकाण्ड अध्याय 40/19
2. "सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।"–वही युद्धकाण्ड 18/33
3. "ऋक्षवानररक्षांसि जनाश्च पुरवासिन:।
आगच्छन् परया भक्त्या पृष्ठत: सुसमाहिता:"।।
नोच्छ्वसत् तदयोध्यायां सुसूक्ष्ममपि दृश्यते।
तिर्यग्योनिगताश्चैव सर्वे राममनुव्रता:।। –वा॰ राम॰ उत्तरकाण्ड –102/19,22

ने उनका संकलन किया। चारण और दूत लगातार नये-नये गीत उससे जोड़ते रहे। इस ऐतिहासिक महाकाव्य को केवल कौरव-पाण्डवों के पारस्परिक युद्ध की कथा ही नहीं, एक महान् विश्वकोष मान लेना ही समीचीन है।[1] भक्ति के विकास के काम आने वाली अनेक कहानियों तथा उसके दार्शनिक रूप की प्रतिष्ठा करने वाली गीता की उपस्थिति के कारण भक्ति-आन्दोलन के अध्येताओं के लिए यह ऐतिहासिक महाकाव्य विशेष महत्त्व का है।

महाभारत के प्रारम्भिक अंशों में मानव, नायक, धर्मोपदेशक तथा पाण्डवों के हिताकांक्षी के रूप में कृष्ण का चित्रण हुआ है। परन्तु उसके अन्तिम पर्वों में वे परमेश्वर घोषित हो गये हैं। व्यक्तित्व सम्पन्न ईश्वर के किसी भी रूप को प्राप्त करने की लालसा तथा भक्ति ही महाभारत के धर्म की विशेषतायँ थीं। महाभारत के रामोपाख्यान में राम की कथा प्राप्त होती है। महाभारत में राम के साक्षात् विष्णु के अवतार होने के संकेत भी उपलब्ध होते हैं। हनुमान् कुन्तीपुत्र भीम से कहते हैं, "उसी समय विष्णु मनुष्य रूप में दशरथ के पुत्र महावीर पराक्रमी रामचन्द्र के रूप में घूम रहे थे। धनुर्धारियों में श्रेष्ठ राम अपने पिता का प्रिय काम करने की इच्छा से स्त्री, भाई और धनुष के सहित दण्डकारण्यक में रहते थे।"[2] गन्धमादन पर्वत पर जब भीम से हनुमान् की भेंट होती है तो हनुमान् राम द्वारा आशीर्वचनों की चर्चा करते हैं। हनुमान् राम का नाम श्रवण करते ही भक्ति के उद्रेक से विह्वल हो उठते हैं। भीम से आलिंगन करते समय वे कहते हैं, कि "तुमको देखकर मेरे नेत्र सफल हो गये हैं। हे कुन्तीनन्दन! तुम्हारे साथ मनुष्य का अंगस्पर्श करके मुझे रघुवंशी राम का स्मरण हो आया।"[3] वे भीम

---

1. मैकडॉनेल–"हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर" पृ॰–378
2. "अथ दाशरथिर्वीरो रामो नाम महाबलः।
   विष्णुर्मानुषरूपेण चचार वसुधामिमाम्।।
   स पितुः प्रियमन्विच्छन्सहभार्यः सहानुजः।
   सधनुर्धन्विनां श्रेष्ठो दण्डकारण्यमाश्रितः।।
   महाभारत, वनपर्व, अध्याय 147/28, 29 इत्यादि
3. "ममापि सफलं चक्षुः स्मारितश्चास्मि राघवम्।
   मानुषं गात्रसंस्पर्शं गत्वा भीम त्वया सह।।"–वही अ॰ 150/6

के अनुनय विनय पर महाभारत में अर्जुन की ध्वजा पर विराजमान-होना स्वीकार करते हैं। हनुमान् कहते हैं, "अर्जुन की ध्वजा पर बैठकर भयानक ध्वनियों को प्रकट करूंगा, जो गर्जना शत्रुओं के प्राण हरने वाली होगी। हनुमान् ऐसा कहकर वहीं अन्तर्धान हो गए।"[1] वस्तुतः पाण्डवों द्वारा हनुमान्-पूजा रामभक्ति का ही अंग है।

महाभारत के अनुसार जो परमात्मा की भक्ति में तन्मय हो जाता है वह अन्त में उसी परमात्मा में लीन होकर मोक्ष-पद को प्राप्त करता है। "वे लोग चौथी गति अर्थात् अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और संकर्षण की उपेक्षा करके भगवान् वासुदेव पुरुषोत्तम को पाते हैं। ऐकान्तिक पुरुष अर्थात् निष्काम भक्त लोग परम पद-लाभ करते हैं।"[2] इसके अतिरिक्त भक्तिहीन पुरुष भगवान् के साक्षात्कार के लिए अयोग्य हैं। इस प्रकार महाभारत ने भक्ति को यज्ञानुष्ठान, तपस्या आदि से श्रेष्ठ सिद्ध कर दिया है। भक्ति में अहिंसा के महत्त्व का भी उल्लेख हुआ है। "उस यज्ञ में पशु-हिंसा नहीं हुई थी, राजा श्रद्धावान् यजमान होकर उस यज्ञ में स्थित थे, वह अहिंसा से युक्त पवित्र उदार और कामनाओं से रहित होकर सब कार्यों में संस्तुत हुआ था। आरण्यक स्थानोद्भूत सब पदार्थों से उसमें देवताओं के भाग कल्पित हुए थे।"[3]

महाभारत में भगवान् शिव के प्रति भी अपूर्व भक्ति प्रदर्शित की गई है। शिव को प्रसन्न करने का एकमात्र साधन है- सच्ची भक्ति। जो उनको प्रसन्न करना चाहते हैं और उनसे वरदान प्राप्त करना चाहते हैं, वे भक्ति के साथ-साथ कठोर तपस्या भी करते हैं और एकाग्र बुद्धि से शिव का ध्यान करते हैं। जो विघ्न और प्रलोभन इस अचल साधना में बाधक होते हैं, उनका दमन करते हैं। शिव के ऐसे अनन्य भक्तों में

---

1. "विजयस्य ध्वजस्थश्च नादान्मोक्ष्यामि दारुणान्।
शत्रूणां ये प्राणहरानित्युक्त्वान्तरधीयत।।"--वही 150/15
2. "न स शक्यो अभक्तेन द्रष्टुं देवः कथञ्चन।।"–महाभारत, शान्तिपर्व, 323/48
3. "न तत्र पशुघातोऽभूत्स राजैवं स्थितोऽभवत्।
अहिंस्रः शुचिरक्षुद्रो निराशीः कर्मसंस्तुतः
आरण्यकपदोद्गीता भागास्तत्रोपकल्पिताः।।"
महाभारत, शान्तिपर्व, 323/10

अर्जुन और उपमन्यु प्रमुख हैं। अर्जुन ने अपनी तपस्या के द्वारा वांछित पाशुपत अस्त्र पाया।[1] उपमन्यु ने जिसकी तपस्या अर्जुन से भी कठोर थी, शिव को छोड़ अन्य किसी देवता की आराधना करना स्वीकार नहीं किया। अन्त में जो कुछ उसने चाहा, उसे मिला। इसके अतिरिक्त शिव ने प्रसन्न होकर उसे अमरत्व का वरदान भी दिया और उपमन्यु संसार में एक आदर्श भक्त उदाहरण बन गया।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता जो महाभारत एवं समस्त शास्त्रों का सार है, भक्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें वैष्णव धर्म के अनुरूप, वैदिक धर्म में अनेकानेक अपेक्षित सुधार करके भक्ति, कर्म, ज्ञान आदि का नूतन विवेचन, विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण उपस्थापित किया गया है। यों तो महाभारत में कृष्ण के पूर्ववर्ती वैष्णव आचार्यों का उल्लेख मिलता है जैसे मरीचि, अत्रि, अंगिरा, वशिष्ठ इत्यादि पर इस समय उनका 'भक्ति' सम्बन्धी कोई ग्रन्थ या सिद्धान्त नहीं मिलता है।

गीता के अठारह अध्यायों में से प्रथम छः अध्यायों में कर्म-योग, बीच के छः अध्यायों में भक्ति-योग और अन्तिम छः अध्यायों में ज्ञान-योग की चर्चा हुई।[2] भक्ति-योग सम्बन्धी अध्यायों में सगुण साकार, सगुण निराकार एवं निर्गुण निराकार की उपासना का उल्लेख है। शरणागत भक्त ही परमात्मा के यथार्थ रूप को समझ सकता है। "जो जिस प्रकार से मेरी शरण लेते हैं, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता हूँ। हे पार्थ! मनुष्यमात्र सब प्रकार से मेरे पथ का अनुगमन करता है।[3] भगवान् को यज्ञों तथा तपों का भोक्ता कहकर यह सूचित किया है कि समस्त शास्त्र विहित कर्मों का पर्यवसान परमात्मा में ही होता है। अतः भक्तों को भगवदर्पण बुद्धि से अपने कर्त्तव्य कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। "हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान करता है और जो तपस्या करता है, वह सब मेरे अर्पण

---

1. "यदा द्रक्ष्यसि भूतेशं त्र्यक्षं शूलधरं शिवम्।
तदा दातास्मि ते तात दिव्यान्यस्त्राणि सर्वशः।।" महाभारत, वनपर्व 38/43
2. 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में भक्तियोग' "कल्याण भक्ति अंक" पृ॰ 114-115
3. "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।" -श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, अध्याय 4/11

कर। इस प्रकार तू सम्पूर्ण शुभ-अशुभ कर्मफलों से छूट जाएगा और फिर इस संन्यासयोग में मुक्त चित्तवाला होकर मुझको ही प्राप्त होगा। मैं किसी से द्वेष नहीं करता और न किसी का पक्षपात करता हूँ, जीवमात्र में मेरा समभाव है। परन्तु जो प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे प्रिय मुझमें ही स्थित हैं और मैं भी उनका प्रेमी हूँ, उनमें हूँ।"[1]

गीता के बारहवें अध्याय में केवल भक्ति का ही विवेचन किया गया है। उसमें प्रेम से परिपूर्ण निष्काम कर्म की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। "जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न कामना ही करता है, तथा जो शुभ और अशुभ आदि सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्यागी है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है"।[2] वस्तुतः गीता का सिद्धान्त यही है कि जीवों को भगवान् के चरणों में ही अपने चंचल चित्त को केन्द्रित करना चाहिए, उस भगवान् का ही भजन, पूजन एवं नमन करना चाहिए। ऐसा करने से ही वह भगवान् को प्राप्त करेगा।[3] गीता में भक्ति, मुक्ति एवं भगवान् की शरणागति का पूर्ण अधिकार स्त्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों आदि तक को प्रदान किया गया है।[4] गीता में भक्ति की श्रेष्ठता इस प्रकार प्रकट की गई है-"सब योगियों में भी जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर प्रेममय भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा

---

1. "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।
शुभाशुभफलैरेवं भोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।"
–श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 9/27, 28, 29

2. "यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।"–वही 12/17

3. "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवामात्मानं मत्परायणः।।"–वही 9/34

4. मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।। वही, 9/32

करता है वह मुझसे परम अन्तरंग रूप में युक्त है और परम श्रेष्ठ है।"[1] एकाग्र मन से निरन्तर भजन तथा ध्यान में लगे हुए भक्त को भगवान् सबसे ज़्यादा चाहते भी हैं, "श्रीभगवान् ने कहा-हे अर्जुन! मेरे स्वयं रूप में मन को एकाग्र करके जो भक्त जन परम श्रद्धा सहित नित्य-निरन्तर मेरे भजन के परायण रहते हैं, उन्हें मैं परम सिद्ध योगी मानता हूँ।"[2] भक्ति-साधना की विशेषता यह है कि भक्त अपने नेत्रों द्वारा भगवान् को देख सकता है। भक्त से अर्पित होने वाले पत्र-पुष्प, फलादि भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर ग्रहण करते हैं।[3] गीता के अनुसार भक्ति साधक के समस्त पापों को मिटाकर उसे मोक्ष प्रदान करने वाली है। "सब प्रकार के धर्मों को त्यागकर एकमात्र मेरी शरण में आ जा। मैं तेरा सम्पूर्ण पापों से उद्धार कर दूँगा, तू शोक मत कर।"[4] इस प्रकार गीता के अनुसार भगवान् की शरण में रहने की उत्सुकता के अतिरिक्त और किसी धर्म की आवश्यकता नहीं है। भगवान् की भक्ति से यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान के साथ-साथ भगवान् भी मिल जाते हैं। "जो पुरुष अन्तकाल में अपने प्राणों को भृकुटि के मध्य में स्थापित करके पूर्ण भक्ति-भाव से भगवत्स्मरण करता है, वह निःसन्देह श्रीभगवान् को प्राप्त हो जाता है।"[5] इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार भगवद्दर्शन एवं एकीभाव में प्रवेश करने के लिए भक्ति-मार्ग ही सर्वोत्तम माना गया है।

पुराणों में भक्ति

भारतीय चिन्तन धारा का अगला तीर्थ है—पुराण-वाङ्मय। पुराण वेदों की भक्तिपरक व्याख्या कहे जा सकते हैं। वेदों में निहित गूढ ज्ञान की पुराणों ने सर्वजन-सर्ववर्ग सुलभ व्याख्या प्रस्तुत की। पौराणिक युग

---

1. "योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥"– वही, अध्याय 6/47
2. "मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥"– वही अ० 12/2
3. "पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥"– वही अ० 9/26
4. "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥" वही, अध्याय 18/66
5. "प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥" वही, अ० 8/10

में वैदिक देवताओं का स्वरूप स्पष्टतर हो गया। पुराण काल ने अमूर्त वैदिक अवधारणाओं को मूर्त्त करने में अप्रतिम योगदान दिया। वैदिक काल के देव जो प्राय: प्राकृतिक शक्तियों के नियामक थे; (द्रष्टव्य अध्याय 1, पृ. 2, अनु. 2) पौराणिक काल तक आते-आते एक विशद् ब्रह्माण्डीय व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण उपांग के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वैदिक देवता इन्द्र अब देवराज इन्द्र हो गए और वैदिक उपेन्द्र यानि विष्णु अब उनसे अधिक शक्तिशाली, महत्त्वपूर्ण और महिमावान् हो गए। सृष्टि के पालक के रूप में उन्हें समय-समय पर अवतार लेने की आवश्यकता होने लगी। ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता और पुनः-सृजन के लिए अनिवार्य प्रलयंकर की भूमिका शिव ने ले ली। वैदिक देवशास्त्र के त्रिवर्ग का स्थान पौराणिक त्रिमूर्ति ने सहज ही ले लिया।

वैसे तो सभी पुराणों में भक्ति के अनेकानेक रोचक उपाख्यान ग्रथित हैं, परन्तु श्रीमद्भागवत समस्त पुराण-वाङ्मय रूपी विराट् पुरुष के हृदय पर चमकती कौस्तुभ मणि के समान देदीप्यमान है।

श्रीमद्भागवत में भक्ति-भावना :

यह पुराण पञ्चलक्षणसमन्वित होने पर भी प्रामाणिक पुराण न होकर भक्ति या ज्ञान शास्त्र है। यह ग्रन्थ ज्ञान एवं भक्तिशास्त्र का अनुपम भण्डार है तथा इसका मुख्य उद्देश्य वैष्णव-भक्ति का निरूपण करना है।

भक्ति के स्वरूप तथा लक्षण के विषय में इसमें कहा गया है कि जिस प्रकार गंगा का प्रवाह अखण्ड रूप से समुद्र की ओर बहता रहता है उसी प्रकार भगवद्-गुण-श्रवण मात्र से मन की गति का अविच्छिन्न रूप से सर्वान्तर्यामी के प्रति हो जाना तथा उसी में निष्काम तथा अनन्य प्रेम रखना भक्ति कही जाती है।[1] "जो भगवान् के चरित्र का श्रवण करते हैं, गायन करते हैं, स्मरण करते हैं तथा उससे आनन्द प्राप्त

1. मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ। भागवत 3/29/11
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।। भागवत 3/29/12

करते हैं, वे शीघ्र ही भगवान् के चरणों को प्राप्त होते हैं तथा आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।"[1] परन्तु भगवान् ने श्रवण, गायन तथा स्मरण को भक्ति तथा उसके फल को मुक्ति माना है। नवधा भक्ति[2] श्रीमद् भागवत की ही देन है।

श्रीमद्भागवत में मानव के परम कल्याण के साधक केवल तीन ही मार्ग माने गये हैं। वे हैं ज्ञान योग, कर्म योग तथा भक्ति योग। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।[3] परन्तु साधक जो कुछ कर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म या अन्य श्रेय के साधनों द्वारा प्राप्त करता है, वह भक्त भक्ति-योग द्वारा अनायास ही प्राप्त कर लेता है।[4] इसीलिए सम्भवतः यह कहा गया है कि संसृति से मुक्तिप्राप्ति के एकमात्र उपाय भक्ति को छोड़कर जो केवल ज्ञान के लिए प्रयत्न करते हैं उनका प्रयत्न भूसी को कूट कर चावल निकालने के प्रयत्न की भाँति निष्प्रयोजन है।[5] निर्मल ज्ञान भी जो कि मोक्ष का साक्षात् साधन है, यदि भक्ति से रहित हो तो शोभनीय नहीं होता, फिर ईश्वर को अर्पित न किये हुए अभद्र कर्मों की बिसात ही क्या।[6] इस प्रकार की भक्ति के कार्य या फल के विषय में भागवतकार का कथन है कि जिस प्रकार धधकती हुई अग्नि लकड़ियों के ढेर को भी जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार भगवान्

---

1. शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
   त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्।। भागवत 1/8/6-36
2. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
   अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।। भागवत 7/5/23
3. योगस्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
   ज्ञानं कर्मञ्च भक्तिश्च नोपायोऽनयोऽस्ति कुत्रचित्।। भागवत 11/20/6
4. यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
   योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि।।
   सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।। भागवत 11/20/32-33
5. श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
   क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
   तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
   नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्।। भागवत 10/14/4
6. नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
   कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्।। भागवत 1/5/12

की भक्ति सम्पूर्ण घोर पापराशि को पूर्णतया जला देती है।[1] जिसके हृदय में भगवद्-भक्ति है उसमें समस्त गुण तथा देवता निवास करते हैं, किन्तु जो भगवान् का भक्त नहीं, उसमें महापुरुषों के गुण आ ही कैसे सकते हैं। उसके मनोरथ तो केवल बाह्य विषयों की ओर दौड़ते हैं।[2] इस प्रकार महापुरुषों के गुणों के लिए भी भक्ति आवश्यक कारण सिद्ध होती है। इस जगत् में मनुष्यों के लिए यही सबसे बड़ा धर्म है कि नाम-कीर्तन आदि के द्वारा भगवान् में भक्ति-योग प्राप्त कर लें।[3] इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति प्रकृति तथा पुरुष इन दोनों के नियामक साक्षात् वासुदेव की शरण लेता है, वह मुझे निश्चय ही प्रिय है[4] -इस श्लोक के द्वारा शरणागति को भक्ति माना गया है।

इस प्रकार भगवान् के द्वारा भक्त को प्रिय माना जाना भागवत पुराण की विशेषता है। इसके अनुसार 'जिनके जिह्वाग्र पर भगवान् का नाम रहता है वे चाण्डाल होने पर भी श्रेष्ठ हैं। जो उसका नाम लेते हैं, उन्होंने यथार्थ तपस्या कर ली, हवन कर लिये तथा वे ही आर्य हैं और उन्होंने ही वेदों का अध्ययन किया है।'[5] उन्हीं भक्तों के लिए परमात्मा स्वयं मनुष्य देह धारण करके अवतार लेता है, जिसकी लीलाओं को सुनकर तथा जिसका भजन करके भक्त उन्हीं में लीन हो जाते हैं'[6] साधारणतया मोक्ष ही वह लक्ष्य माना गया है जिसके लिए ज्ञान, भक्ति,

---

1. यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
   तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैतनांसि कृत्स्नशः।। भागवत 11/14/18
2. यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
   हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।। भागवत 5/18/12
3. एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
   भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः।। भागवत 6/3/22
4. यः परं रंहसः साक्षात्त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात्।
   भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे।। भागवत 4/24/29
5. अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
   यज्जिह्वा ग्रेवर्तते नाम तुभ्यम्।
   तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
   ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते।। भागवत 3/33/7
6. अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः।
   भजते तादृशीः क्रीडा याः स्मृत्वा तत्परो भवेत्।। भागवत 10/33/37

योग, आदि सब साधन स्वीकार किये गये हैं परन्तु यहाँ भक्ति की अतिशयता प्रदर्शित करने के लिए मुक्ति को भी भक्त के सत्संग तक से अल्प बतलाया गया है। अन्यत्र भी कहा गया है कि 'भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य आदि मुक्ति भी भगवत्-सेवा के सम्मुख स्वीकार नहीं करते। भगवत्-सेवा के लिए मुक्ति की भी अवहेलना करने वाला यह भक्ति-योग ही परम पुरुषार्थ कहा गया है जिसके द्वारा पुरुष त्रिगुण को पारकर भगवत्-भाव को प्राप्त हो जाता है।'[1]

इस वृत्तान्त से यही लक्षित होता है कि भक्त स्वयं भगवान् को प्रिय होता है परन्तु कभी-कभी भक्त के भजन करने पर भी वे उसमें उतनी ही रुचि प्रदर्शित नहीं करते। इसका कारण वे अपने और भक्त के बीच बदले हुए सम्बन्ध को नहीं मानते वरन् इसका कारण वे साधक भक्त में भगवान् के लिए अधिक व्यग्रता उत्पन्न करना मानते हैं। जिस प्रकार प्राप्त धन के नष्ट होने से किसी दरिद्र को अत्यन्त व्याकुलता होती है उसी प्रकार भक्त को परमात्मा की झलक पाकर फिर ओझल हो जाने पर व्याकुलता होती है।[2] यों स्वयं भगवान् के वाक्य हैं, "हे द्विज! मैं भक्तों के अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ, मेरे हृदय पर भक्तों का पूर्ण अधिकार है, भक्त मुझे बहुत ही प्रिय हैं।"[3] इन चार वाक्यों में भक्तों के भगवान् के साथ अटूट सम्बन्ध तथा अधिकार का सुन्दर प्रदर्शन है। 'जिन भक्तों का भगवान् से सम्बन्ध है तथा भगवान् जिनके वशवर्ती हैं, उनके जीवन-यापन की गतिविधि यही है कि भगवान् के वियोग में वे कभी रो उठते हैं, कभी हँसते हैं, कभी प्रसन्न होते हैं, कभी अलौकिक भाव में स्थिर होकर कुछ बड़बड़ाने लगते हैं और कभी परम

---

1. सालोक्य सार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥ भागवत 3/29/13-14
2. नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथा धनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयाऽन्यन्निभृतो न वेद॥ भागवत 10/32/20
3. अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥ -भागवत 9/4/63

शान्ति का अनुभव करके शान्त हो जाते हैं।'[1] अपने प्रिय भगवान् का कीर्तन करते-करते उपर्युक्त प्रकार से लोक-बाह्य आचरण करते हुए वे विचरण करते हैं।[2]

श्रीमद्भागवत में भजन के सर्वोत्तम उपाय के रूप में भक्ति की घोषणा हुई। यज्ञ और तपस्या की भी सर्वमान्यता नहीं रही और भक्ति के साथ-साथ अपने-अपने कर्त्तव्यों को निभाते रहने का सन्देश सर्वत्र फैल गया।[3] यहाँ मुख्यतः विष्णु और शिव को ही प्रधानता मिली और भागवत धर्म विष्णु और शिव को केन्द्र मानकर विकसित हुआ। भगवान् शिव के विषय में कहा गया है, 'तुम निगूढ़ परब्रह्म हो। सदसद् समस्त वस्तुएँ तुम्हीं से उत्पन्न होती हैं। तुम परमेश्वर हो तथा विभिन्न शक्तियों के द्वारा जगत् के रूप में अभिव्यक्त हो रहे हो। अपनी गुणमयी शक्ति से तुम ब्रह्मा, विष्णु और शिव नाम धारण कर सृष्टि, स्थिति और संहार करते हो। तुम स्वप्रकाश भूमा स्वरूप हो।'[4]

परम ब्रह्म परमेश्वर शिव के इस स्वरूप को पहचान लेने के कारण ही श्रीमद्भागवतकार ने यह स्वीकार किया है कि जहाँ शिव हैं वहाँ विष्णु और ब्रह्मा भी नहीं हो सकते। दक्ष-यज्ञ के प्रसंग में यह तथ्य स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि जब दक्ष ने शिव को मान न देते हुए अन्य देवताओं को बुलाया तो ब्रह्मा और विष्णु भी वहाँ नहीं गये तथा यज्ञ-विध्वंस के पश्चात् शिव के प्रसन्न होने पर पुनः यज्ञ-संधान हुआ तब विष्णु ने स्वयं वहाँ उपस्थित होकर घोषणा की।[5] ब्रह्मा ने भी

---

1. क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः।। -भागवत 11/3/32
2. एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायन्त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः।। भागवत 11/2/40
3. सत्यकेतु विद्यालंकार: 'भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास'- पृ०-255
4. गुणामय्या स्वशक्त्यस्या सर्गस्थित्यप्ययान विभो।
धत्से यथा स्वदृग् भूमन् ब्रह्माविष्णुशिवाभिधाम्।। भागवत 4/6/3
5. अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयं दृगविशेषणः।।-भागवत 4/7/50
त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति।। भागवत 4/7/54

शिव की महत्ता को स्वीकार किया है।[1] इस प्रकार से श्रीमद्भागवत आदि से अन्त तक भक्ति-भाव से ओत-प्रोत है।

लौकिक संस्कृत साहित्य में भक्ति

लौकिक संस्कृत साहित्य के महाकाव्यों, नाटकों एवं गीतिकाव्यों में भी भक्ति की पर्याप्त चर्चा की गई है। कविकुलगुरु कालिदास शैवमतावलम्बी होने के साथ-साथ ब्रह्मा की वन्दना[2] एवं विष्णु की वन्दना[3] भी करते थे। रघुवंश के आरम्भ में कवि ने "वाणी और अर्थ को प्राप्त करने के लिए जगन्माता पार्वती और जगत् पिता शिव को उसी प्रकार मानकर वन्दना की है, जिस प्रकार शब्द और अर्थ का संयोग एक दूसरे से संश्लिष्ट है।[4] अद्वैत शिव-पार्वती की मंगलमयी कृपा कवि को प्राप्त हो, यही याचना है। शिव जल के रूप में हमें प्रत्यक्ष दिखलाई देते हैं जिसे ब्रह्मा ने सर्वप्रथम बनाया, उस अग्नि के रूप्म में भी दिखाई पड़ते हैं जिसे यज्ञ करने का कार्य मिला है, चन्द्र-सूर्य के रूप में दिखाई पड़ते हैं, जो सब बीजों को उत्पन्न करने वाली बताई जाती है, उस वायु के रूप में दिखलाई पड़ते हैं जिसके कारण समस्त जीव जीवित हैं। जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी, वायु-इन सभी पदार्थों में प्रत्यक्ष शिव का ही रूप है।"[5] शिव-महिमा की व्याख्या उनकी अन्य रचनाओं में भी दिखाई देती है। 'वेदान्ती जिन्हें अकेला पुरुष बतलाते हैं, जो पृथ्वी और आकाश में रमा हुआ होने पर भी सबसे पृथक् है, जिनका ईश्वर नाम ऐसा यथार्थ है कि उन्हें अन्य किसी नाम से पुकारा नहीं जा सकता, जिन्हें मुमुक्षु जन प्राणायाम द्वारा अपने हृदय के भीतर खोजते हैं, सत्य

---

1. जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः।
शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद् ब्रह्म निरन्तरम्।।–भागवत 4/6/42
2. "कुमारसम्भव–सर्ग 2.14"
3. "रघुवंश, सर्ग 10.16-32"
4. "वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।"–रघुवंश, 1/1
5. "या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री।
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः।
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।" अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/1

भक्ति से प्राप्त वे ही शिव सबके कल्याणार्थ हों।'[1] वह मन, वाणी और बुद्धि की पहुँच के परे है, उस परम सत्ता के तत्त्वों को कौन जान सकता है?[2] शिव के प्रति अपने भाव को व्यक्त करते हुए कालिदास ने मेघदूत में मेघ के द्वारा शिव की रंजकता का भावमय निरूपण किया है, यथा 'हे मेघ! साँझ की पूजा हो चुकने पर जब महाकाल ताण्डव नृत्य करने लगें, उस समय तुम साँझ की ललाई लेकर उन वृक्षों पर छा जाना, जो उनकी ऊँची बाँह के सामने खड़े होंगे। ऐसा करने से शिव जी के मन में जो हाथी की खाल ओढ़ने की इच्छा होगी वह भी पूरी हो जायेगी। वह देखकर पहले तो पार्वती डर जायेंगी और फिर तुम्हें पहचान कर उनका डर दूर हो जाएगा और वे एकटक तुम्हारी शिव-भक्ति देखती रह जायेंगी।'[3] इन वर्णनों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि कवि ने शिव को परमदेव माना है और भगवान् शिव के प्रति उनकी अपूर्ण भक्ति है।

बौद्ध धर्मानुयायी कविवर अश्वघोष ने भी बड़ी ही श्रद्धा एवं भक्ति के साथ राम का उल्लेख किया है- "पुत्र-सहित शल्वराज, अम्बरीष, अन्ध राम और उस सांकृति रन्तिदेव ने वल्कल छोड़कर वस्त्र धारण किये और कुटिल जटाएँ काटकर मुकुट पहने।"[4] भट्टि काव्य में तो विष्णु के अवतार राम का ही सांगोपांग चित्रण हुआ है। भगवान् राम की प्रशंसा करते हुए मुनि कहते हैं, "जिसने बलि को बाँधा, समुद्र को मथा, अमृत को हरा, दैत्य-वंश को जीता, प्रलयान्त में हिरण्याक्ष से हरण

---

1. "वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी।
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते।
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः।।" –विक्रमोर्वशीयम्–1/1
2. "किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन विभर्षि तत्।
अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एष ते।।" –कुमारसम्भवम्, 6/23
3. "पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
नृत्यारम्भे हरपशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिभर्वान्याः।।"–मेघदूत, पूर्वमेघ, 40
4. "शाल्वाधिपो हि ससुतोऽपि तथाम्बरीषो रामोऽन्ध एव स च सांकृतिरन्तिदेवः।
चीराण्यपास्य दधिरे पुनरंशुकानि छित्त्वा जटाश्च कुटिला मुकुटानि बभ्रुः।।"
–सौन्दारनन्द 7/51

की गयी वसुधा का पुनः उद्धार किया, ऐसे असाधारण कार्य करने वाले आपके (राम के) लिये यह भार कोई बड़ा भार नहीं है।"[1]

महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' महाकाव्य में नायक भगवान् कृष्ण भी विष्णु के अवतार के रूप में ही चित्रित हैं। "(रुक्मिणी रूप में अवतीर्ण) लक्ष्मी के पति, जगत् के निवास-स्थान, संसार का शासन करने के लिए शोभा (या समस्त सम्पत्ति) से युक्त वासुदेव (रूपी कश्यप) के घर में निवास करते हुए (श्रीकृष्ण रूप से अवतीर्ण) विष्णु भगवान् ने आकाश से (नीचे की ओर) उतरते हुए ब्रह्मा-पुत्र नारद मुनि को देखा।"[2] इसी प्रकार से कविवर कुमारदास ने भी अपने 'जानकीहरण' में विष्णु को राम के रूप में ही अवतरित बताया है।[3]

संस्कृत-नाटकों में प्रथम नाटककार भास के ही 'प्रतिमा' और 'अभिषेक' नाटकों में भगवान् राम की कथा का वर्णन हुआ है। भास के 'बालचरित' नामक नाटक में कृष्ण की कथा वर्णित है। इस प्रकार नाटककार भास ने राम और कृष्ण को भगवान् विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकार करते हुए उनके प्रति प्रगाढ भक्ति का प्रदर्शन किया है। नाटककार भवभूति ने भी अपने दो नाटकों में भगवान् राम के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति की मार्मिक अभिव्यंजना की है। 'महावीरचरित' के प्रारम्भ में भवभूति कहते हैं, "आदिकवि वाल्मीकि ने रघुपति का जो पावन चरित्र-वर्णन किया है, भक्त होने के कारण हमारी वाणी भी उस पर अनुरक्त हो गई, विद्वान् लोग प्रसन्न हृदय से उसका आस्वाद करें।"[4]

इसी प्रकार 'उत्तररामचरित' नामक नाटक में भवभूति ने भगवान्

---

1. "बलिर्बबन्धे जलधिर्ममन्थे जह्रेऽमृतं दैत्यकुलं विजिग्ये।
   कल्पाऽन्तदुःस्था वसुधा तथोहे येनैष भारोऽतिगुरुर्न तस्य।।" –भट्टिकाव्य, 2.39
2. "श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
   वसन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः।।"–शिशुपालवध, 1/1
3. "जानकीहरण", सर्ग 2, श्लोक 70-77
4. "प्राचेतसो मुनिवृषा प्रथमः कवीनां यत्पावनं रघुपतेः प्रणिनाय वृत्तम्।
   भक्तस्य तत्र समरंसत मेऽपि वाचस्तत्सुप्रसन्नमनसः कृतिनो भजन्ताम्।।"
   –महावीरचरितम्, 1/7

राम के जीवन के उत्तरार्द्ध का चित्र अंकित किया है।[1] 'महावीर-चरित' में भगवान् राम के जीवन के पूर्वार्द्ध का विवरण है। मुरारि मिश्र के 'अनर्घराघव' में भगवान् राम की कथा का वर्णन है। महाकवि राजशेखर ने 'बालरामायण' नामक नाटक में विष्णु के अवतार भगवान् राम का तथा 'बालभारत' में कृष्ण के चरित्र का वर्णन किया है।

इसके अतिरिक्त बाण का 'चण्डीशतक' और मयूर का 'सूर्यशतक' इस परम्परा में प्रधान है। 'चण्डीशतक' में देवी पर एक सौ स्तोत्र मिलते है। मयूर 'शतक' सूर्य की स्तुतियों का समाहार है।

अतः संस्कृत-साहित्य के अन्तर्गत महाकाव्य, नाटक एवं गीतिकाव्य सभी भक्ति-भावना से आप्लावित हैं।

भारतीय साहित्यशास्त्र में भक्ति

भारतीय साहित्यशास्त्र की मान्यताओं के अनुसार, ईश्वर-विषयक प्रेम के कारण भक्तिरस उत्पन्न होता है। इसके आलम्बन भगवान् हैं। ईश्वरानुराग भक्तिरस का स्थायी भाव है और औत्सुक्य, हर्ष, निर्वेद, मति आदि संचारी भाव हैं। अलौकिक ईश्वरीय कार्य, भक्त-सत्संग तथा भगवद्महिमा का गान इस रस के उद्दीपन विभाव हैं।

सुप्रसिद्ध गौड़ीय वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी ने भक्ति को रस-पद पर आसीन करने का महत् कार्य सम्पादित किया। इन्होंने भक्तिरसामृतसिन्धु तथा उज्ज्वलनीलमणि नामक ग्रन्थों का प्रणयन कर, इसे शास्त्रीय रूप प्रदान किया। भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ रस सिद्ध करते हुए इसे वे प्रधान या मूल रस मानते हैं और अन्य सभी रसों को भक्ति रस में ही अन्तर्निविष्ट कर देते हैं। आचार्य रूपगोस्वामी भक्ति रस को उज्ज्वल या मधुर रस की संज्ञा प्रदान करते हैं एवं इसे कर्म एवं ज्ञानयोग से श्रेष्ठ मानते हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र के आद्य आचार्यों ने भक्ति को स्वतन्त्र रस

1. "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति।।"–उत्तररामचरितम्, 2/7

न मानकर इसे भाव कहा है। उदाहरणार्थ देवता, राजा तथा गुरु आदि के प्रति अनुरक्ति को अपूर्णरस या भाव की संज्ञा प्रदान की गई है। आचार्य दण्डी ने सर्वप्रथम भक्ति का संकेत प्रायोलंकार के विवेचन के अन्तर्गत किया।[1]

आचार्य भामह ने भी प्रेयस् को प्रीति से सम्बद्ध मानकर "प्रेय: प्रियतराख्यानम्" के रूप में इसके मधुर स्वरूप का संकेत किया है। आचार्य रूद्रट ने प्रेयान् नामक नूतन रस का परिकल्पन कर, इसका स्थायी भाव स्नेह बताया है।[2]

शाण्डिल्यभक्तिसूत्र एवं नारदभक्तिसूत्र में भक्ति का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। भगवद्भक्तिरसायन के प्रणेता मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति के शास्त्रीय स्वरूप का विवरण इस प्रकार किया है– शृङ्गारादि रसों का भक्तिरस से वही अन्तर है जो सूर्य और खद्योतों का।[3] आचार्य रूपगोस्वामी इसकी पुष्टि इस प्रकार करते हैं:– जिस प्रकार दध्यादि द्रव्य, शर्करा, मिर्च आदि के मेल से रसालरस बनता है ऐसे ही साक्षात् कृष्ण के दर्शन से भक्तिरस उदित होता है जिसमें भक्त को रसानुभूति होती है।[4]

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा में भक्ति को रस की उपाधि से अभिहित करके इसका विशद विश्लेषण किया गया है।

कश्मीर में भक्ति-परम्परा :

भक्ति आन्दोलन के कार्यकर्ताओं के दार्शनिक विचारों, संगठनात्मक कार्यों तथा साहित्यिक रचनाओं से प्रभावित होने तथा उन महान् देशीय

---

1. भक्तिमात्रसमाराध्य: सुप्रीतश्च ततो हरि:। काव्यादर्श 2.277
2. काव्यालंकार - 16/18
3. परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रति:।
   खद्योतेभ्य: इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा।। भगवद्भक्तिरसायन 2/78
4. यथा दध्यादिकं द्रव्यं शर्करामरिचादिभि:।
   संयोजनविशेषेण रसालाख्यो रसो भवेत्।।
   तदत्र सर्वथा साक्षात् कृष्णाद्यनुभवाद्भुत:।
   प्रौढानंदचमत्कारो भक्तै: कोऽप्यनुरस्यते।। भक्तिरसामृतसिन्धु, 2/5/64-65

आन्दोलन में सबसे महत्त्वपूर्ण सहयोग देने का सौभाग्य हिन्दी प्रदेशों (उत्तर-प्रदेश, राजस्थान, मध्य-प्रदेश, बिहार) के साथ-साथ गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब तथा कश्मीर को भी मिला है।[1] समय-समय पर कश्मीरी में शैव और वैष्णव सम्प्रदायों की पोषक अनेक रचनाएँ प्रत्यक्ष हुईं। कश्मीरी भाषा की सबसे प्राचीन रचना शितिकण्ठ का 'महानय प्रकाश' है। इसमें भक्ति दर्शन की व्याख्या हुई है। लल्लेश्वरी के आत्मानुभूति से ओत-प्रोत हैं, रहस्यात्मक पद भी इसी युग की देन हैं। उन्होंने मूर्ति-पूजा का विरोध करके हृदय स्थित ईश्वर को पहचान लेने का सन्देश सुनाया। लल्लेश्वरी का कथन है, "मन माली इच्छा मालिन भाव कुसुमों से करो पूजन, जलधार से भक्ति रस की मौन मन्त्र से शम्भु का जागरण।"।[2] लल्लेश्वरी को भक्ति मार्ग की आद्याशक्ति कहा जा सकता है। उनके अनुसार परमार्थ पाने में किसी चीज़ की कमी नहीं अगर कमी है तो वह है अमृत भोगने वालों की-"थक गई स्वयं अपना आप ढूंढते, छुपे ज्ञान को कोई पहुँचा नहीं, शरण में हुई तो पहुँची मधुशाला, भरे हुए चषक से पीने वाला नहीं।"[3]

कश्मीरी की आदिकालीन रचनाओं में भी शैव-दर्शन, सदाचार, सहजोपासना, आध्यात्मिक साधना, पाखण्डविरोध आदि भक्तिपरक तत्त्वों का विश्लेषण हुआ है। पन्द्रहवी एवं सोलहवीं शतियों में लिखी गई अधिकांश कश्मीरी रचनाएँ अप्राप्त हैं। परन्तु 'बाणासुर वध' एवं 'सुख-दुख चरित', ये दोनों ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं।

सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक कश्मीरी गीति-काव्यों के प्रणयन का युग माना जाता है। सूफी भक्तों ने रहस्यात्मक भाव गीतों की रचना करके गीत-रचना की प्रवृत्ति को आगे बढ़ाया। इस युग के सूफी

---

1. निर्मलकुमार बोस-"दें जियोग्रेफिकल बैकग्राउन्ड ऑफ इन्डियन कल्चर : दें कल्चरल हेरिटिज ऑफ इन्डिया" भाग-1 पृष्ठ-3-32
2. "मन पुशि जै यछ पुशानी भाविक कव्सम लग्यज़्यस पूज़े।
शिशरस गुड दिज़्यस जलदाने छुयि मंत्र शंकर वुज़े।।" -लल्लद्यद (लल्लेश्वरी)
3. "छांडान लूसस पानि पानस छुपे ज्ञानस वोत न कांह।
लै करमस वाचस मैखानस बरि बरि बान त च्यवान न कांह।।" -वही

रहस्यवादी कवियों में हबीबुल्ला नौशहरी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 1650 ई॰ के आस-पास इस शैली में कौसा साहब ने कृष्णचरित की रचना की। ऐतिहासिक महाकाव्यों तथा पुराणों की कथाओं पर आधारित रामचरित, कृष्णलीला, पार्वती-परिणय और नलदमयन्ती पर अनेक लीलाकाव्य रचे गये। अनेक राम-काव्यों, कृष्ण-काव्यों तथा शैव-भक्ति प्रधान रचनाओं से कश्मीरी साहित्य सम्पन्न हो गया। परमानन्द का 'शिव-लगन' शिव पार्वती विवाह की कथा पर आधारित है। कृष्ण जू राज़दान ने 'हरिहर कल्याण' और दूसरे 'शिव लगन' की रचना की है। 'सुदामा चरित' तथा 'भागवत' इस युग की भक्ति-प्रधान अन्य रचनाएँ हैं। परमानन्द ने सुदामा का यूं वर्णन किया है– जब सुदामा संसार को भूल गये और ईश्वर को अर्पण होकर कृष्ण की ओर चलने लगे तो द्वारिका से भगवान् स्वयं मिलने आते हैं। "उधर से निकले भगवान् सुदर्शन इधर से सुदामा जी हुए अर्पण।"[1]

कश्मीर शैव-दर्शन में प्राप्त भक्ति

कश्मीर की प्रमुख दार्शनिक मान्यता शिवाद्वैतवाद है। इस मान्यता के अनुसार सम्पूर्ण जगत् शिवमय है। अतः जीव भी वस्तुतः शिव ही है। किन्तु वह जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भुला बैठा है और अपनी देह और मन को ही आत्मा समझने लगा है। कश्मीर शैव-दर्शन का सारा उपदेश जीव को उसका वास्तविक सत्य प्रख्यापित करता है कि जीव शिव रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इसके साथ ही यह दर्शन उस साधना का भी उपदेश देता है, जिससे जीव का शिव में समावेश हो।

शैव-दर्शन में मोक्ष प्राप्ति या स्वरूप-साक्षात्कार के लिए अन्य साधनों के अतिरिक्त भक्ति भी एक साधन के रूप में स्वीकृत है। भक्ति को सर्वोत्कृष्ट एवं इतर उपायों को अपने भीतर समाहार करने वाली माना गया है। आचार्य उत्पलदेव ने ध्यान, जप आदि आत्म-साक्षात्कार के उपायों को मायीय बताकर भक्ति को सर्वोत्कृष्ट एवं सुगम उपाय

---

1. "तोर द्राव भगवान सुदर्शनय,
यो़र सुदाम जी गव अर्पणय।"–परमानन्द

स्वीकृत किया है।[1] श्रीराम कण्ठ के अनुसार, जहाँ समाधि साधक को अद्वैत की स्थिति प्राप्त कराने में असमर्थ और असफल रहती है, वहाँ भक्ति न केवल द्वैत को नष्ट करती है अपितु सभी पदार्थों में परमात्मा के चैतन्य को भी दिखाती है।[2] भक्ति तमोनाश के लिए दीपशिखा तुल्य है। परमशिव में समावेश-प्राप्ति कराने में भक्ति नितान्त समर्थ है। अत: स्वरूप-साक्षात्कार करने वाले के लिए भक्तिशाली होना परम सौभाग्य की बात है, क्योंकि किसी भी जीव को भक्त बनाना अथवा न बनाना, किसी को भक्ति का पात्र बनाना या न बनाना, सब परमशिव के नियन्त्रण में है।[3] वास्तव में भक्ति-भाव के स्वरूप के विषय में इतना कहना पर्याप्त होगा कि यह केवल भगवान् का अनुग्रह ही होता है। यही कारण है कि कश्मीर के भक्त-शैवाचार्यों ने संस्कार हेतुक शक्तिपात् को भक्ति का कारण और भक्ति को स्वरूप साक्षात्कार के लिए मूलभूत उपाय माना है, जिसे भक्ति-रूपी मूल साधन उपलब्ध हो गया उसके लिए अन्य साधन निष्प्रयोजन हो जाते हैं।[4]

संसार में प्रत्येक प्राणी अपनी आत्मा से प्रेम करता है। आत्मा चूंकि शिव रूप ही है, अत: आत्मा का यह प्रेम या भक्ति जब भक्त को भगवद्-भक्ति के साथ एकाकार के रूप में अनुभूत होती है तो उसे समावेश की प्राप्ति हो जाती है।[5] साधक जब भक्ति को स्वरूप साक्षात्कार के रूप में ग्रहण करता है और उसमें भक्ति का प्रथम अंकुर

---

1. "न ध्यायतो न जपत: स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्।।"–शिवस्तोत्रावली, 1/1
"न योगो न तपो नाऽर्चाक्रम: कोऽपि प्रणीयते।
अमाये शिवोमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते।।"–वही 1/18
2. "समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्य भेदभूधर:।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभि:।।"
क्षेमराम द्वारा प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में 11वीं कारिका की व्याख्या के प्रसंग में उद्धृत।
3. "पूजका: शतश: सन्ति भक्ता: सन्ति सहस्रश:।
प्रसादपात्रमाश्वस्ता द्वित्रा: सन्ति न पञ्चशा:।।"
परात्रिशिकाविवृति (पादटिप्पणी) में उद्धृत।
4. "व्यतीतगुणयोगस्य मुख्यधेयस्य धूर्जटे:।
नामापि ध्यायतां ध्यानै: किमन्यालम्बने: फलम्।।"–स्तवचिन्तामणि, श्लोक 19
5. "त्वमेवात्मेश सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान्।
इति स्वभावसिद्धां त्वद्भक्तिं जानञ्जयेज्जन:।।" शिवस्तोत्रावली, अध्याय 1/7

फूट पड़ता है तो यह दशा भक्ति की 'अपरावस्था' कहलाती है और जब यही भक्ति पराकाष्ठा को पहुँचती है तो वह भक्ति की 'परावस्था' कहलाती है। भक्ति की यही परावस्था 'मोक्ष' कहलाती है। शैव दार्शनिकों ने इसे ही समावेशमयी भक्ति का नाम दिया है। व्युत्थान में समावेश की प्राप्ति[1] ही तो भक्ति की पराकाष्ठा है। परावस्था को प्राप्त हुआ भक्त वस्तुत: अपनी ही भक्ति में रमा रहता है। उसे आत्म-भक्ति कहें या परमात्म-भक्ति-दोनों का एक ही अर्थ है।

इस प्रकार कश्मीर शैव दर्शन में स्वरूप-साक्षात्कार या मोक्षप्राप्ति का मूलभूत साधन भक्ति है।

1. "लब्धत्वत्संपदां भक्तिमतां त्वत्पुरवासिनाम्।
सञ्चारो लोकमार्गेऽपि स्यात्तयैव विजृम्भया।।" –शिवस्तोत्रावली, अध्याय 1/3

तृतीय अध्याय

भक्ति के विभिन्न सम्प्रदाय

वैष्णव-भक्ति :

भारतीय धर्म साधना में शिव के अतिरिक्त जिन अन्य रूपों में परमेश्वर की उपासना को स्थान मिला है, उनमें विष्णु और उनके अवतारों का अधिक महत्त्व है। इसमें सन्देह नहीं है कि शैवमत की अपेक्षा वैष्णवमत अर्वाचीन है। सिन्धु-सभ्यता के भग्नावशेषों के अध्ययन से हमें शैव सम्प्रदाय का पता मिलता है, वैष्णव मत का नहीं।[1] इसी प्रकार मोहनजोदाड़ो एवं हड़प्पा की खुदाई में भी विष्णु के व्यक्तित्व के चिह्न दिखाई नहीं देते।

संहिता काल से पूर्व विष्णु की पूजा का कोई प्रमाण नहीं मिलता तथा संहिता काल में भी विष्णु सर्वप्रथम एक साधारण देवता के रूप में ही दिखाई देते हैं। ऋग्वेद में कई स्थलों पर वे एक आदित्य मात्र समझे जाते हैं और दिन भर की यात्रा को केवल तीन पगों में ही पूरी कर देने के कारण आर्य लोग उन्हें महत्त्व देते हैं तथा उनका यशोगान करते जान पड़ते हैं।[2] वेदों में उपासकों के शरण-दाता आदि रूपों में भी विष्णु का चित्रण हुआ है। वैष्णव धर्म नारायणीय सम्प्रदाय के रूप में प्रकट हुआ। पुरुषसूक्त के रचयिता नारायण ऋषि से प्रचलित होने के कारण ही सम्भवत: वैष्णव धर्म का नाम नारायणीय सम्प्रदाय पड़ा।[3]

---

1. एम॰ आर॰ साखरे-हिस्ट्री एण्ड फिलॉसफी ऑफ लिन्गायत रेलिजन्ज़, पृष्ठ-226
2. परशुराम चतुर्वेदी -"वैष्णव धर्म" पृ॰-12
3. डॉ॰ एम॰ जार्ज-"भक्ति आन्दोलन और साहित्य" पृ॰-164

भागवत सम्प्रदाय के आराध्य वासुदेव तथा बलदेव की उपासना की परम्परा ई॰ पू॰ चौथी शती के पहले से विद्यमान है। दूसरी शताब्दी ई॰ पू॰ में वासुदेव के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए वैष्णव भक्त एवं यवन हेलियोडोरस ने बेसनगर में गरुडध्वज की स्थापना करके यह प्रमाणित किया है कि वैष्णव धर्म का सामंजस्य हो चुका है।[1] इस प्रकार भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के समन्वय के फलस्वरूप वैष्णव भक्ति विकसित हुई। भक्त, भागवत, वैष्णव, पञ्चरात्र, वैखानस, कर्महीन आदि सम्प्रदायों की एकता ने इस समन्वय को पर्याप्त बल पहुंचाया होगा।[2]

पहाड़ों तथा समतल के बीच में वृक्षों से निविड़ स्थानों के निवासी दक्षिण के गडरिया लोग तिरूमाल या मायोन नामक देवता की उपासना करते थे। इस लोकप्रिय उपासना पद्धति का भी वैष्णव सम्प्रदाय से समन्वय हो गया।[3] इसी प्रकार दक्षिण में ही भक्ति का बहुत कुछ प्रचार आलवार भक्तों द्वारा हुआ। आलवार भक्तों की संख्या बारह बताई जाती है, जिनमें नौ तो ऐतिहासिक व्यक्ति माने जाते हैं।[4] आलवार भक्तों ने शिव और विष्णु दोनों को भगवान् का रूप माना है, पर उनमें अधिकतर वैष्णव भक्ति का ही प्राधान्य है। नाथमुनि ने जिनका समय 624 से 824 ईस्वी तक माना जाता है, आलवार भक्तों के गीतों का सम्पादन *प्रबन्धम्* नाम से किया। इस ग्रन्थ में 4000 गीत संगृहीत हैं। विष्णु, नारायण एवं भागवत पुरुष इनके उपास्य हैं। आलवारों ने विष्णु के लिए माल या तिरूमाल शब्द का प्रयोग किया है जिससे स्पष्ट होता है कि दोनों देवताओं की एकता स्थापित हो चुकी है।[5]

आलवारों में नाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष, राममित्र, यामुनाचार्य (नाथमुनि के पौत्र) आदि प्रसिद्ध आचार्य हुए। यामुनाचार्य ने रामानुज के विशिष्टाद्वैत की नींव डाली और भास्कराचार्य ने निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैत की पृष्ठभूमि तैयार की। इन्हीं आलवारों में अपने युग के सर्वाधिक प्रभावशाली रामानुजाचार्य ने विष्णु-भक्ति का आश्रय लेकर नीच जाति

1. डॉ॰ एम॰ जार्ज–"भक्ति आन्दोलन और साहित्य" पृ॰–164
2. एच॰ एच॰ विल्सन–"रेलिजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज़" पृ॰–6
3. डॉ॰ एम॰ जार्ज–"भक्ति आन्दोलन और साहित्य" पृ॰–166
4. डॉ॰ जयनाथ 'नलिन'- "भक्ति काव्य में माधुर्य-भाव का स्वरूप", पृ॰–34
5. डॉ॰ एम॰ जार्ज–"भक्ति आन्दोलन और साहित्य" पृ॰–165

के लोगों का उत्थान किया। शठकोप के तमिल भाषा में रचे भक्ति शास्त्र 'तिरूवल्लुअर' को वैष्णवों का वेद कहकर सम्मानित किया। शठकोप के लिखे चार ग्रन्थ तमिल भाषा के वेद कहलाते हैं। इनमें विष्णु के अवतारों का लीलागान किया गया है।[1]

वैष्णव धर्म के चार प्रमुख मार्ग हैं-श्रीवैष्णव सम्प्रदाय, ब्रह्म सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय और सनक सम्प्रदाय। इन चारों सम्प्रदायों का प्रारम्भ भगवान् से ही लक्ष्मी, ब्रह्मा, रुद्र और सनत्कुमार के द्वारा हुआ। इन धर्मों के प्रचार करने वाले क्रमशः श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य (आनन्दतीर्थ), श्री वल्लभाचार्य तथा श्री निम्बार्काचार्य हैं। इन सम्प्रदायों के दर्शनों के नाम विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत तथा द्वैताद्वैत हैं।[2] रामानुज ने अपने सम्प्रदाय की प्रगति एवं स्थिरता के लिए अनुयोज्य प्रबन्ध किया। उन्होंने उपासना के अनुष्ठानपरक अंशों पर प्रकाश डाला और उनकी विस्तृत चर्चा प्रस्तुत की। देवाचार्य, राघवानन्द और रामानन्द ये ही रामानुज के मुख्य शिष्यों की क्रमिक परम्परा थी।[3] इनके 'विशिष्टाद्वैत' का अर्थ है–चेतन और अचेतन का विशिष्ट अद्वैत। इस दर्शन में चेतन और अचेतन की शरीर रूप में गृहीत अद्वैतता की व्याख्या है।[4]

मध्वाचार्य ने अपने सम्प्रदाय को द्वैतवाद पर अवलम्बित किया। यह सांख्य दर्शन को असाधारण महत्त्व देने का परिणाम था। उन्होंने जीवात्मा और परमात्मा को एक नहीं, दो भिन्न तत्त्व माना। विष्णु को ब्रह्म सिद्ध करने के कारण उनके सम्प्रदाय का ब्रह्म सम्प्रदाय नाम पड़ा।[5] मध्वाचार्य स्वयं शैव थे जो बाद में वैष्णव बन गए। इस सम्प्रदाय के अनुयायी कृष्णोपासना को महत्त्व देते हैं। मध्यावार्य ने विष्णु को ही सर्वोच्च परमतत्त्व कहा है। भगवान् विष्णु अनन्त और असीम गुणों से विभूषित हैं।[6]

---

1. डॉ॰ जयनाथ 'नलिन'–"भक्ति काव्य में माधुर्य-भाव का स्वरूप", पृ॰–35
2. डॉ॰ एन॰ चन्द्रकान्त–"तमिल और हिन्दी का भक्ति साहित्य" पृ॰–272
3. डॉ॰ एम॰ जार्ज–"भक्ति आन्दोलन और साहित्य" पृ॰–176
4. डॉ॰ एन॰ चन्द्रकान्त–"हिन्दी और तमिल का भक्ति साहित्य" पृ॰–272
5. डॉ॰ एम॰ जार्ज–"भक्ति आन्दोलन और साहित्य" पृ॰–177
6. डॉ॰ गिरिधारीलाल शास्त्री,–"हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि" पृ॰–196

वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद-मतानुसार ब्रह्म माया से अलिप्त, अतः नितान्त शुद्ध है। यह माया से अलिप्त ब्रह्म ही एकमात्र अद्वैत तत्त्व है। अतः इस मत का शुद्धाद्वैत नाम यथार्थ ही है। ब्रह्म सर्वधर्मविशिष्ट है, अतः उसमें विरुद्ध धर्मों की स्थिति भी नित्य है। ब्रह्म विरुद्ध धर्मों की सत्ता माया से प्रतिभासित नहीं होती है प्रत्युत स्वाभाविक है।[1] भगवान् की महिमा अविज्ञेय है। जो अणोरणीयान् है, वही महतो महीयान् है। ब्रह्म अनेक रूप होकर भी एक है, स्वतन्त्र होने पर भी भक्ताधीन है। ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों हैं।[2] वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद भक्ति-साधना मार्ग में 'पुष्टि-मार्ग' कहलाता है। इस मार्ग के साधक के लिए 'पोषण तदनुग्रह'[3] के आधार पर भगवान् का अनुग्रह ही उसे पोषण या पुष्टि प्रदान करता है। वल्लभाचार्य के अनुसार अखिलरसामृत मूर्ति निखिल लीलाधाम श्रीकृष्ण ही परमब्रह्म है।

निम्बार्काचार्य ने अपने सम्प्रदाय को द्वैताद्वैतवाद पर अवलम्बित किया। निम्बार्क मत में "श्रीकृष्ण ही परमब्रह्म है। कृष्ण की शक्ति व्यक्त और अव्यक्त तथा अंश और अंशी रूप से व्याप्त है। इसलिए उसमें द्वैत नहीं है। वही जीव-जगत् से विलक्षण है, इसलिए द्वैत भी है। कृष्ण की शक्ति अचिन्त्य तथा अनन्त है। वे ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों के आश्रय हैं।"

निम्बार्क सम्प्रदाय को सनक-सम्प्रदाय अथवा हंस-सम्प्रदाय भी कहते हैं। निम्बार्क मत में ब्रह्म की प्रतिष्ठा सगुण रूप में की गई है। ब्रह्म ही इस सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण है। उसके अनन्त अव्यक्त रूपों का नाम विश्व है। निम्बार्क के मत में भी रामानुज के ही अनुरूप ईश्वर चिद्-अचिद् युक्त है। सृष्टि के समस्त पदार्थों में नारायण बाहर-भीतर व्याप्त हैं। परमात्मा के ही परब्रह्म नारायण, भगवान् कृष्ण और पुरुषोत्तम आदि नाम हैं।

इस वैष्णव भक्ति-परम्परा में आगे चलकर चैतन्य महाप्रभु एवं

1. वही पृ०-203
2. वल्लभाचार्य-"उभयव्यवदेशात् त्वहिकुण्डलवत्।" 3/2/27
3. श्रीमद्भागवत, 2/10

श्री हितहरिवंश के नाम उल्लेखनीय हैं। चैतन्य महाप्रभु ने अन्य आचार्यों की भाँति अपने सम्प्रदाय को व्यवस्थित रूप नहीं दिया। श्री चैतन्य उच्चकोटि के भावुक भक्त थे और वे दार्शनिक सिद्धान्तों के तर्कजाल में नहीं उलझे। श्रीकृष्ण के प्रेम-पयोनिधि में निमग्न रहने के कारण किसी ग्रन्थ आदि की रचना के लिए महाप्रभु के पास समय ही नहीं था। इनके मतानुसार श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं। उनकी अनन्त शक्तियाँ हैं। शक्ति और शक्तिमान् में न भेद सिद्ध होता है, न अभेद। इन दोनों का सम्बन्ध तर्क द्वारा अचिन्त्य है। इसलिए इनका सिद्धान्त 'अचिन्त्यभेदाभेद' के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीकृष्ण ही अचिन्त्य शक्तिमान् भगवान् परब्रह्म हैं। चैतन्य सम्प्रदाय में महान् पुरुषार्थ है-प्रेम। "प्रेम पुमर्थो महान्।" प्रेमाभक्ति ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। श्री चैतन्य ने भक्ति को सर्वोत्तम उपाधि प्रदान की है।

श्री हितहरिवंश के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इन्होंने स्वप्न में श्रीराधिका से मन्त्र-ग्रहण कर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था और उनकी प्रेरणा से 'राधावल्लभीय' नाम का अपना अलग सम्प्रदाय स्थापित किया था। उन्होंने राधा-कृष्ण की युगल उपासना का उपदेश दिया।[1] इस सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण की प्रेम शृंगार की केवल संयोग लीलाओं का ही महत्त्व है। वियोग भावना इस सम्प्रदाय में नहीं है।[2] उनके विचार से कृष्ण का महत्त्व 'राधावल्लभ' होने के कारण ही है। वे राधिका ही को स्वामिनी और श्रीकृष्ण को उनका सेवक मानते थे जो राधा के संकेतों पर सदैव नाचा करते हैं।[3]

आगे 'राधा-कृष्ण' की युगल उपासना करने वाले स्वामी हरिदास का भी नाम आता है। स्वामी हरिदास 'रसिक' नाम की छाप से प्रसिद्ध थे। उनकी प्रेम भक्ति में राधा-कृष्ण की युगल पूजा का विधान

1. डॉ॰ गिरिधारीलाल शास्त्री,-"हिन्दी कृष्ण भक्ति की पृष्ठभूमि" पृ॰-211
2. -वही- पृष्ठ-212
3. "सुनि मेरौ बचन छबीली राधा। तें पायो रस सिन्धु अगाधा।।
जाहि विरंचि उमापति नाये। तापै तें बनफूल बिनाये।।
तेरौ रूप कहन नहि आवै। हित हरिवंश कछुक जसे गावै।।"
वही-पृष्ठ 212-213 से उद्धृत

था। वे सदैव कुंजबिहारी कृष्ण तथा राधा का नाम रटा करते थे। श्रीहरिदास में राधा-कृष्ण भक्ति की तन्मयता की चरमावस्था मिलती है। इसी परम्परा में श्रीभट्ट और श्रीहरिव्यासदेव विशेष प्रसिद्ध हैं।[1]

उत्तर में अभीर आदि जातियों के साहित्य और जीवन में सम्पृक्त भावधारा ने कृष्णवार्ता को ओतप्रोत कर दिया। श्रीरामानुजाचार्य ने भक्ति के नवीन उद्घोष के साथ आलवारों की लोकवाणी के स्वर को गूंथ दिया।[2] श्रीरामानुज सम्प्रदाय की एक शाखा श्री राघवानन्द के द्वारा उत्तर भारत में पहुंची। उसने वाराणसी से लेकर राजस्थान में गल्ताजी तक अपनी शाखाएँ फैला दीं। श्रीराघवानन्द श्रीरामानुजचार्य की तेरहवीं पीढ़ी में माने जाते हैं।[3] राघवानन्द आचार और धर्म में अन्धरूढता के समर्थक नहीं थे। अपने गुरु श्रीहरियाचार्य का आदेश पाकर ये उत्तर में भक्ति के प्रचार करने के लिये पहुँचे। श्रीराघवानन्द का सम्बन्ध रामाश्रित भक्ति से था। हिन्दी क्षेत्र में आपका सम्पर्क श्रीरामानन्द (ई॰ 1299-1408) से हुआ।[4] श्रीरामानन्द जी ने अपने गुरु श्रीराघवानन्द के भक्ति धर्म को उत्तर भारत में प्रचारित करने के कार्य को बहुत आगे बढ़ाया। चारों वर्षो में भक्ति का प्रचार राघवानन्द और रामानन्द ने किया। इस प्रकार श्रीरामानुजाचार्य की भक्ति की प्रथम लहर उत्तर में श्रीराघवानन्द[5] और श्रीरामानन्द के माध्यम से आयी।

शैव-भक्ति :

शिव-उपासना की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम अवशेष 'हड़प्पा' और 'मोहनजोदड़ो' की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। "इन नगरों से जिस प्राचीन सभ्यता का पता चलता है, उस पर शैव प्रभाव की व्यापकता प्रमाणित हो चुकी है। प्राप्त मूर्तियों के आधार पर यह तथ्य स्वीकार कर लिया गया है कि सिन्धु घाटी के प्राचीन

---

1. डॉ॰ सत्येन्द्र पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ॰-289
2. डॉ॰ के रामनाथन-"हिन्दी और तेलुगु वैष्णव भक्ति साहित्य" पृ॰-80
3. श्री रामानन्द-रामार्चनपद्धति, श्लोक 3 से 5 तक।
4. डॉ॰ के रामानाथन-"हिन्दी और तेलुगु वैष्णव भक्ति साहित्य" पृ॰-82
5. भागवतसम्प्रदाय पृ॰-243

निवासी शिव और उनकी शक्ति की पूजा करते थे।"[1] इनके अतिरिक्त ध्वंसावशेषों की खुदाई से किसी अन्य देवता की पूजा का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है। अत: शैव धर्म प्राग्वैदिक अथवा द्रविड़ संस्कृति की देन है।

सिन्धु घाटी सभ्यता के पश्चात् वैदिक सभ्यता का अभ्युदय हुआ, जिसमें शिव (रुद्र) को ईश्वर के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके पश्चात् उपनिषदों, पुराणों तथा ऐतिहासिक महाकाव्यों में भी शिव की आराधना ईश्वर-रूप में की गई है। अत: शैव-भक्ति अति प्राचीनकाल से प्रचलित है।

शैव-भक्ति का विवेचन एवं विश्लेषण करने के लिए इसके तीन पक्षों-उपासक, उपास्य और उपासना का अवलोकन आवश्यक है, क्योंकि भक्ति का प्रमुख पक्ष उपासक है जो अपनी श्रद्धा एवं उपासना से उपास्य को मुग्ध ही नहीं करता अपितु उसके साथ गहन सान्निध्य प्राप्त कर ऐक्यानुभव भी करता है।

उपासक : छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार, "उपासक परमात्मा में अनुराग, क्रीडा, संयोग, सुख एवं आनन्द का अनुभव करता हुआ स्वराट् है (परमात्म-स्वरूप हो जाता है)।"[2] नारद भक्तिसूत्र के अनुसार वह सब धर्मों को त्याग कर भगवान् की शरण में जाता है।[3] "उसके नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होते रहते हैं। उसके अस्तित्व से ही कुल और पृथ्वी पवित्र होती है।[4] उपासक भक्ति की पराकाष्ठा को प्राप्त कर भगवान में आसक्त हो जाता है। उससे तीर्थ सुतीर्थ, कर्म सुकर्म और शास्त्र सत् शास्त्र हो जाते हैं।[5] सच्चा उपासक काम, क्रोध, अहंकार और विश्व के

---

1. डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा-"हिन्दी साहित्य कोश" पृ॰-2015
2. "आत्मवेद सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द: स स्वराड् भवति।"

   छान्दोग्योपनिषद्, 7/25/2
3. "लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्"-नारद भक्तिसूत्र, पृ॰-61
4. "कण्ठावरोधरोमाश्चाश्रुभि: परस्परं लपमाना:
   पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च।" नारद भक्ति सूत्र, 68.3
5. तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति
   कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि।-वही, 68.4

प्रपंचों से तटस्थ रहकर विश्वमात्र को एक दृष्टि से देखता है। शिवपुराण में उपासकों के ये आठ लक्षण बतलाये गए हैं-शिव-भक्तों के प्रति स्नेह, शिव-पूजा का अनुमोदन, शिव-पूजन में प्रवृत्ति, शारीरिक चेष्टाएँ, शिव-कथा-श्रवण, कथा सुनते समय स्वर, नेत्रों और अंगों में विकार की उत्पत्ति, बारम्बार स्मरण और सदा शिवाश्रित जीवन-निर्वाह। इनसे युक्त म्लेच्छ भी विप्रशिरोमणि श्रीमान् मुनि है, वही संन्यासी और पण्डित है।[1]

उपासक अपने गुणों से ही उपास्य के सान्निध्य को प्राप्त करता है। उपासक के प्रमुख गुण श्रद्धा, विश्वास, अहिंसा, सत्य, शौच और दया हैं। ये आपस में एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। अतएव एक के गहन अनुपालन से दूसरे का पालन स्वतः ही होने लगता है। ऋग्वेद में श्रद्धा को विशेष महत्त्व दिया गया है।[2] श्रीमद्भगवद्गीता भी "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" कहकर भी महत्त्व का प्रतिपादन करती है।[3] यही भक्ति की आधारशिला है। यही तप, जप आदि की मूल आधार है।

विश्वास का सम्बन्ध आस्तिकता से है। भक्त का अनिवार्य गुण ईश्वर एवं शास्त्रों के प्रति विश्वास है। भगवान् के अस्तित्व और उनके प्रभाव तथा गुणों पर विश्वास होने से मन स्वतः भगवान् में लग जाता है।

विश्वास के समान ही अहिंसा भक्त का आवश्यक गुण है। शरीर, मन और वाणी से किसी भी जीव को किसी प्रकार, वर्तमान या भविष्य में दुःख न पहुँचाना, अपितु सदा सबको सुखी बनाने की चेष्टा में लगे रहना ही अहिंसा है। द्वेष, वैर, निन्दा आदि भावों से बचकर वाणी को अपने और दूसरे के हित की दृष्टि से सदा मधुरता और सत्य-सिक्त रखना ही साधक का गुण है।

उपासक के लिए बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के शौच की आवश्यकता है। इनके द्वारा शुद्ध होने पर ही मन भगवद्भक्ति की ओर

---

1. शिवपुराण--वायवीय संहिता अध्याय 10
2. "श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।" ऋग्वेद 10/151/5
3. "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।" श्रीमद्भगवद्गीता 4/39

अग्रसर होता है। शुद्ध मन का आभूषण दया है। दया भगवद्भक्त का आवश्यक गुण है। जिन क्रियाओं से जीवों का अहित होता हो, उन्हें दु:ख पहुँचता हो उनका त्याग आवश्यक है।[1]

शैवोपासक :- शैव सम्प्रदायों में वीर शैव, पाशुपत, शुद्ध शैव, काश्मीरी शैव मुख्य हैं। शैवों के रसेश्वर, कालामुख एवं कापालिक सम्प्रदाय भी प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त दार्शनिक शंकराचार्य के अनुयायी दशनामी शैव कहलाते हैं । वीर शैव सम्प्रदाय के अनुयायी लिंग धारण करने से लिंगायत भी कहलाते हैं। इसकी चार मुख्य श्रेणियाँ जंगम, शीलवन्त, बनजारे तथा पंचमशाली हैं।[2] इसमें सभी वर्ग के व्यक्ति – गृहस्थ, योगी, संन्यासी अथवा वैरागी पाए जाते हैं।

वीर शैव के समान ही पाशुपत शैवों में भिन्न-भिन्न गुरुओं द्वारा प्रवर्तित अनेक सम्प्रदाय हैं।[3] पाशुपत, कालामुख और कापालिक सम्प्रदाय गोरखनाथ द्वारा विकसित सम्प्रदाय में मिल गए। अत: गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय बारह मुख्य शाखाओं में विभक्त है जो हैं– सतनाथी, धर्मनाथी, रामपंथी, नटेश्वरी, कन्हड़ी, कपिलानी, वैरागी, भाननाथी, आईपंथी, पागलपंथी, वज्रपंथी और गंगानाथी।

सतनाथी शाखा के गोरखपंथी कनफटा योगियों का शैव पंथों में प्रमुख स्थान है। ये शिव के कट्टर उपासक हैं और अपने को पाशुपत कहते हैं। शैव साधुओं का एक विशिष्ट सम्प्रदाय ऊर्ध्वबाहु है। इनके समान ही आकाशमुखी, सुख–रास, रुखास और उखरास, नरवी तथा नागा भी शैवोपासक हैं।

वीर शैव और पाशुपात सम्प्रदाय के उपसम्प्रदायों की भाँति शुद्ध शैव और काश्मीरी शैवों में बाह्याडम्बर न होने से उप–भेद नहीं पाए जाते हैं। इनमें ज्ञान, भक्ति और योग-समन्वित साधना का ही महत्त्व है।

---

1. "अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि"– नारद भक्तिसूत्र, 78.3
2. भण्डारकर, "वैष्णविज़्म एण्ड शैविज़्म एण्ड अदर माइनर रिलिजन्स," पृ॰ 196
3. हजारीप्रसाद द्विवेदी-नाथ सम्प्रदाय, पृ॰–10

शंकराचार्य भी चार प्रमुख शैव सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं–दण्डी, संन्यासी, परमहंस तथा ब्रह्मचारी। इनके प्रमुख शिष्य पद्मपाद, हस्तामलक, सुरेश्वर तथा त्रोटक माने गए हैं, जिनके दस शिष्य – तीर्थ, आश्रम, बाण, अरण्य, सरस्वती, भारती, पुरी, गिरी, पर्वत और सागर हैं। ये सामूहिक रूप से दशनामी कहलाते हैं।

उपास्य :– भक्ति के दूसरे अंग में उपास्य का स्थान है। शैवों के उपास्य देव शिव हैं, जो सर्वातीत, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सर्वलोक महेश्वर हैं। वे सत्–चित्–आनन्द रूप परात्पर ब्रह्म एवं सर्वदा सर्वगत अनन्त, विभु, नित्य, निराकार और निर्गुण हैं। वे स्वरूपतः एक होते हुए भी रूप और शक्ति के वैविध्य से सम्पन्न हैं। वे ज्ञान स्वरूप, मायातीत होकर भी अपने उपासकों को मुग्ध करते हैं। शिव का नाम, रूप, गुण आदि भक्तों का परमाश्रय है।

शैवमत के अनेक ग्रन्थों में शिव के अनेक नाम प्रचलित हैं। उनमें से पाँच प्रमुख नाम हैं– ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात।[1] उपास्य के नामकरण का श्रेय उपासक को है, वह भगवान् के कृत्य, गुण और रूप से विभोर हो, उनको अनेक नामों से अलंकृत करता है। अथर्ववेद के अनुसार ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी जीव पशु माने गए हैं, अतः उनको अज्ञान से बचाने के कारण वे पशुपति कहलाते हैं।[2] लिंगपुराण में भगवान् शिव को 'महाभिषक्' कहा गया है, क्योंकि वह उपासकों का प्रिय रहा है।[3] अमरकोश में इनके अन्य अनेक नामों का उल्लेख मिलता है यथा– शूलिन्, ईश्वर, शंकर, मृड, श्रीकण्ठ, शितिकण्ठ, विरूपाक्ष, धूर्जटि, नीललोहित, स्मरहर, व्योमकेश, स्थाणु[4]।

---

1. शिवपुराण-शतरुद्रीय संहिता अध्याय 10
2. "ये ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पादामुत यो द्विपदाम्।
   निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम्।।"
   अथर्ववेद 2/34/1
3. "ववन्दे देवमीशानं सर्वज्ञं सर्वगं प्रभुम्"–लिंग पुराण, 16/6
4. "शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः । ईश्वरः शर्व ईशानः शंकरश्चन्द्रशेखरः।। भूतेशः खण्डपरशुःशिरीशो गिरिशो मृडः।। मृत्युञ्जयः कृतिवासाः पिनाकी प्रथमाधिपः। उग्रकपर्दी श्रीकण्ठः शितिकण्ठः कपालभृत्। वामदेवी महादेवी विरूपाक्षस्त्रिलोचनः।। कृशानुरेता सर्वज्ञो गूर्जरिनी लोहितः हरः स्मरहरो भर्गस्त्र्यम्बकस्त्रिपुरान्तकः।। गंगाधरो अन्धकरिपुः क्रतुध्वंसी वृषध्वजः।। व्योमकेशो भवो भीमः स्थाणु रुद्र उमापतिः।।"–अमरकोश 1/1/30-34

इनके अतिरिक्त अमरकोश में ही त्रिपुरान्तक, भावुक, भविक, भव्य, कुशलक्षेम आदि नामों का उल्लेख है।[1] कश्मीर शैव दर्शन शिव को अज्ञेय तथा अनिर्वचनीय मानता है। भगवान् शिव का जितना भी निर्वचन किया जाय, वे उससे परे हैं। इसलिये इन्हें सत्-असत् की कोटियों में भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे अनुत्तर हैं।[2] शिव को आत्मा माना गया है और आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है।[3] शिव सत्, चित्, आनन्द हैं। उन्हें सत् कहा जाता है क्योंकि सत् (सत्य) रूप है, उन्हें चित् कहा जाता है क्योंकि वे चेतन (conciousness) हैं। कश्मीर शैव दार्शनिक परमतत्त्व का कोई रूप अथवा आकार नहीं मानते। उनके यह मानने का तात्पर्य है कि शिव बिना उपाधि और गुण के हैं क्योंकि इन लक्षणों से सीमित नहीं किया जा सकता। सीमित अवस्था में भी (अर्थात् आत्मारूप में भी) इसका असीम से तादात्म्य बना रहता है। इसी अर्थ में परमसत्ता को अनिर्वचनीय कहा जाता है।

उपासना:- भक्ति-क्षेत्र में उपासक और उपास्य के सामीप्य का एकमात्र साधन उपासना है। उपासक और उपास्य का निरूपण करते समय इस तथ्य को कदापि भुलाया नहीं जा सकता। अतएव परमात्म तत्त्व का अभेदात्मक भाव से चिन्तन, ध्यान और उसके सान्निध्य से प्राप्त आनन्द ही सर्वोत्तम उपासना अथवा भक्ति है।

भक्ति शब्द भज् (सेवायाम्) धातु में क्तिन् प्रत्यय लगाकर बनाया है। भक्ति का अर्थ है भगवान् की सेवा करना। सामान्यतः सेवा का आलम्बन कोई भी हो सकता है, पर जिस अर्थ में इसका प्रयोग जनसामान्य में प्रचलित है उसका आलम्बन 'ईश्वर' ही है। सामान्यतः

---

1. "श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मंगलशुभम्।
भावुकं भविकं भव्यं कुशलं श्रममस्यिाम्।।"–अमरकोश 1/4/25
2. "न सन्न चासत्सदसन्न च तन्नोभयोज्झिक्तम्।
दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तरम्।।"–तन्त्रालोक, 2/28
"समस्तलक्षणायोग एव यस्योपलक्षणम्।
तस्मै नमोऽस्तु देवाय कस्मैचिदपि शम्भवे।।"–शिवस्तोत्रावली, 2.6
3. "तेन आत्मादेर्निराकरणे साधने वापि अवश्यमेव साधयिता पूर्वकोटावातिप्रः सिद्धः। नहि साधयितारमन्तरेण अर्थानां साध्यतैव स्यात्, स च स्वतः सिद्धः प्रकाशात्मा परमार्थरूपः परमेश्वरः शिव एव।"–तन्त्रालोक, 1/56 टीका

भक्ति को सेवा, आराधना, पूजा, ध्यान, उपासना आदि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है। यही अर्चना, वन्दना और भजन रूप में भक्तों के हृदय को रसाप्लावित करती है।

भक्ति का लक्ष्य भगवान् से मिलने की व्यग्रता है। इसके दो भेद-शरणागति और आत्मसमर्पण हैं। यह भगवान् को प्राप्त करने का सबसे सरल मार्ग है। विद्वानों ने भक्ति को दो भागों में विभाजित किया है-गौणी तथा परा।[1] गौणी के भी दो भेद हैं-वैधी और रामानुगा।[2] वैधी भक्ति सेवा को प्राधान्य देती है और रामानुगा में राम या प्रेम तत्त्व प्रधान होता है। रामानुगा भक्ति के तीन स्तर बतलाए गए हैं-स्नेह, आसक्ति और व्यसन।[3] ईश्वर-स्नेह भक्त को लौकिक राग से मुक्त करता है। आसक्ति से संसार के प्रति अरुचि और भगवान् के प्रति आकर्षण बढ़ता है। व्यसन से भक्त को पूर्ण प्रेम की प्राप्ति होती है। भक्ति का यह विभाजन साधन और साध्य के आधार पर किया गया है। वैधी और रामानुगा दोनों साधन पक्ष के अन्तर्गत हैं। जब भक्त सब कामनाओं से रहित होकर पूर्ण शान्ति की अवस्था को पहुँचता है तब वह ईश्वर के परम प्रेम में निमग्न होता है। भक्ति की इस अवस्था को 'पराभक्ति' कहते हैं। यही पूर्ण अनुराग की अवस्था है। यह भक्ति का साध्य पक्ष है। इस प्रकार भक्ति साधनरूपा भी है और साध्यरूपा भी।

शिवोपासना में बेलपत्र, धतूरा, जल, केसर, चन्दन, धूप, दीप, मिठाई तथा कपूर के अतिरिक्त वे सामग्रियाँ भी काम में आती हैं, जो साधारणत: शिवेतर अन्य मन्दिरों में काम में ली जाती हैं। श्वेत एवं रक्त कमल, शंखपुष्प, द्रोणपुष्प, कुशपुष्प, जपा, करवीरपुष्प, चमेली, शमी, वेली एवं जूही के पुष्प, तुलसीदल, शतपत्र, दूर्वा, लाल और सफेद आक, अपामार्ग, गेहूं, जौ, चावल, उड़द, श्रीफल भी शिवपूजा के उपकरण हैं।[4] सुपारी, लवंग, ताम्बूल आदि का भी शिवपूजन में महत्त्व है।[5] केवल

---

1. डॉ॰ हरवंशलाल शर्मा-"सूर और उनका साहित्य", पृ॰ 340
2. डॉ॰ हिरण्यम्-"हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति का तुलनात्मक अध्ययन", पृ॰ 30
3. डॉ॰ कमला भण्डारी- "मध्यकालीन कविता पर शैवमत का प्रभाव", पृ॰124
4. वही- पृ॰-127
5. गंगाविष्णुश्रीकृष्णदास-सकाम शिवपूजन, पृ॰26

चम्पा और केतकी के पुष्प शिव को अर्पित नहीं किए जाते।[1] शिवपुराण में गाय का घी, दूध, दही, शहद और शक्कर को पंचामृत रूप में तथा अलग-अलग शिव-पूजा के लिए आवश्यक उपकरण बतलाया गया है। इन समस्त वस्तुओं के अभाव में केवल बिल्व पत्र से ही शिव प्रसन्न हो जाते हैं।

स्मार्त भक्ति :

श्रीमत् शंकराचार्य (संवत् 845-877) केरल प्रान्त के नम्बूदिरी ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे और अपनी अल्यायु में ही संस्कृत भाषा में उपलब्ध प्रधान ग्रन्थों के पारंगत विद्वान् हो गए थे। इनका मुख्य ध्येय बौद्ध प्रभृति जैसे अवैदिक धर्मों का इस देश से बहिष्कार कर, यहाँ के धार्मिक समाज में एकता स्थापित करना था। इन्होंने अपने मत का मूलाधार श्रुति अर्थात् वैदिक साहित्य को ही स्वीकार किया और उसके प्रतिकूल मतों का खण्डन तथा घोर विरोध किया। इस प्रकार शंकराचार्य ने वेदों का समर्थन करते हुए एक नवीन मत का प्रवर्तन किया, जिसके दार्शनिक अंश को 'वेदान्त' तथा साधना को 'स्मार्त्त' मार्ग कहते हैं।[2] इनका कहना है कि श्रुति के मूल सिद्धान्तों द्वारा एक नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत् एवं आनन्द स्वरूप मुक्त-स्वभाव ब्रह्म का प्रतिपादन होता है। इसको छोड़कर अन्य कुछ भी सत्य नहीं और जिसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही वास्तविक मोक्ष है। किन्तु इस ज्ञान-साधना के पहले यह आवश्यक है कि वेद-विहित नियमानुसार अपने वर्णाश्रम धर्म का भली भाँति पालन कर अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर लिया जाय, चाहे वह शुद्धि एक अथवा अनेक जन्मों के अभ्यास द्वारा क्यों न प्राप्त होती हो।[3]

श्रीमत् शंकराचार्य ने अपने मत के प्रचारार्थ प्रायः समस्त भारतवर्ष का भ्रमण किया। इनका प्रधान उद्देश्य वैदिक आर्य-धर्म का पुनरुद्धार था, किन्तु अपना दृष्टिकोण मूलतः दार्शनिक होने के कारण इन्होंने अपनी शक्ति का प्रयोग उक्त मत के सिद्धान्त निरूपण तथा

---

1. चंपकं केतकं हित्वा अन्यत्सर्वं शिवेऽपर्येत्।।" –वही पृ० 12
2. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी–"उत्तरी भारत की सन्त परम्परा" पृ०–34
3. –वही–

प्रतिपादन हेतु ही किया। इसके लिए इन्होंने मुख्यत: खंडन-मंडन की तर्क-प्रणाली का अनुसरण किया जिसका अधिक प्रभाव केवल शिक्षित वर्ग पर ही पड़ा। इस श्रेणी के लोगों के लिए इन्होंने भगवद्गीता, वेदान्त सूत्रों तथा कुछ उपनिषदों पर भाष्यों की भी रचना की, जिनमें इनके ज्ञान-वैदग्ध्य का पूर्ण परिचय मिलता है। सर्वसाधारण हिन्दुओं के लिए इन्होंने अपना स्मार्त्त सम्प्रदाय भी संगठित किया जिसके द्वारा सभी अन्य हिन्दू सम्प्रदायों के भी व्यक्ति प्रभावित हो सकते थे और जिसके सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए वे अपने को आर्य-धर्म के अनुयायी भी मान सकते थे।

शंकराचार्य ने जिस मत का उपदेश किया उसके सिद्धान्त पक्ष में ब्रह्म का स्वरूप बौद्धों के शून्यवत् प्रतीत होता था। इनके स्मार्त्त सम्प्रदाय के लिये पञ्चदेव अर्थात् शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य तथा गणेश की एक समान आराधना आवश्यक थी।[1] स्मृतियों द्वारा विहित जप, तप, व्रत, उपवास, यज्ञ, दान, संस्कार, उत्सव, प्रायश्चितादि का निष्पादन भी प्रत्येक मनुष्य के लिए परम कर्त्तव्य समझा गया था। इसी प्रकार इनके मत का मूल आधार वेदों तथा उपनिषदों की तर्क तथा बुद्धि पर आधारित व्याख्या थी। इस व्याख्या में इन्होंने बौद्ध तथा जैन जैसे धर्मों के सिद्धान्तों की आलोचना के साथ-साथ उन शाक्त, सौर और वैष्णव जैसे हिन्दू-सम्प्रदायों के मतों को भी अमान्य ठहराया, जो अपने को वेद-सम्मत माना करते थे। इनके अपने कथन की प्रामाणिकता वैदिक शब्दों तथा वाक्यों के सूक्ष्म और पाण्डित्यपूर्ण विवेचन पर आश्रित थी। उसमें स्वानुभूतिपूर्ण स्वतन्त्र विचार को उतना स्थान न था। इस कारण वेदादि को आधार मानकर न चलने वालों के लिए उसकी मान्यता आवश्यक न थी और वह इस दृष्टि से एकांगी तथा अपूर्ण भी समझी जा सकती थी। केवल धर्म-ग्रन्थों पर ही आश्रित न रहकर निजी साम्प्रदायिक ढंग से काम करने वाले व्यक्ति बौद्ध तथा जैन धर्मों के कतिपय अनुयायी थे, जिन्होंने लगभग इसी समय अपने क्षेत्रों में भी उक्त समन्वय, सामंजस्य तथा सुधार का प्रचार आरम्भ किया।[2]

1. डॉ॰ परशुराम चतुर्वेदी-"उत्तरी भारत की सन्त परम्परा" पृ॰-35
2. वही - पृ॰ 36

नवधा भक्ति :

भागवत पुराण में वर्णित नवधा भक्ति का भक्त समाज में बड़ा आदर है और भक्त-कवियों ने उसका बहुधा उल्लेख किया है। यूं तो भक्ति के प्रधान दो भेद हैं-एक साधन रूपा जिसको वैध तथा नवधा भक्ति के नाम से पुकारा जाता है और दूसरा साध्य रूपा जिसे प्रेमलक्षण के नाम से पुकारते हैं।[1] इनमें सेवा साधन रूप है और प्रेम साध्य है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान् विष्णु के नाम, रूप, गुण और प्रभावादि का श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान् की चरण-सेवा, पूजा और वन्दना एवं भगवान् में दास्यभाव, सखाभाव और अपने को समर्पण कर देना, यह नौ प्रकार की भक्ति है।[2] इन सबके मूल में सेवा-भावना निहित है। इनमें किसी एक का भी सच्चे हृदय से अनुष्ठान करने पर मनुष्य परम पद को प्राप्त हो जाता है।

(1) श्रवण भक्तिः- श्रवण भक्ति उसे ही प्राप्त होती है जिसके हृदय में श्रद्धा और प्रेम का वास हो। श्रवण भक्ति को प्राप्त करने के लिये महापुरुषों की संगति आवश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन, उस ज्ञान को तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के पास जाकर उनको भली-भाँति दण्डवत् प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और निष्कपट रूप से सरलतापूर्वक प्रश्न करने से परमात्मतत्त्व के मर्मज्ञ वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे।[3] अतः श्रवण भक्ति बिना सत्संग के प्राप्त नहीं होती।[4]

---

1. डॉ० मुंशीराम शर्मा–"भक्ति का विकास"
2. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
   अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।। –श्रीमद्भागवत 7/5/23
3. "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
   उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।" –श्रीमद्भगवद्गीता 4/34
4. "बिनु सत्संग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
   मोह गए बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग।।"
   –रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा 61

(2) कीर्तन:- भगवान् के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, चरित्र और रहस्य आदि का श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उच्चारण करते-करते शरीर में रोमाञ्च, कण्ठावरोध, हृदय की प्रफुल्लता, अश्रुपात आदि का होना कीर्तन भक्ति का लक्षण है। कीर्तन भक्ति भी महानुभावों की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। भक्तों द्वारा भगवान् के प्रेम, प्रभाव-तत्त्व और रहस्य की बातों को सुनने या शास्त्रों को पढ़ने से भगवान् में श्रद्धा होती है और तब मनुष्य कीर्तन भक्ति को पाता है। इस प्रकार भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम भाव की उत्पत्ति होती है। गीता में भी यही भाव व्यक्त किया गया है कि यदि कोई दुराचारी भी अनन्यभाव से मुझे निरन्तर भजता है तो वह साधु ही है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और उसे शान्ति की प्राप्ति होती है। तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।[1]

(3) स्मरण:- भगवान् के नाम, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व और उनकी रहस्यमयी कथाओं का श्रवण तथा पठन और मनन करना ही स्मरण भक्ति है। "जहाँ तक हो सके एकान्त एवं पवित्र स्थान में सुख पूर्वक स्थिर सरल आसन पर बैठकर इन्द्रियों को विषयों से रहित करके कामना और संकल्प को त्यागकर प्रशान्त और वैराग्य-युक्त चित्त पर अथवा चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते सभी काम करते हुए भी स्वाभाविक बुद्धि और सरल भाव से सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार के तत्त्व को जानकर गुण और प्रभाव-सहित भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करना, भगवान् के नाम का मन से स्मरण करना, भगवान् की लीलाओं का स्मरण करके मुग्ध होना, भगवान् के तत्त्व और रहस्य को जानने के लिए उनके गुण, प्रभाव का चिन्तन करना तथा दिव्य स्तोत्र और पदों से मन के द्वारा स्तुति और प्रार्थना करना, इस तरह स्मरण के बहुत से प्रकार शास्त्रों में कहे गये हैं।"[2] गीता में भी कहा गया है- हे

---

1. "अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।"

–श्रीमद्भगवद्गीता 9/30-31

2. जयदयाल गोयन्दका 'नवधा भक्ति' पृ॰–19, 20

अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तम का स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगी के लिए मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।[1]

(4) पादसेवनः- पादसेवन का अर्थ मूर्ति-उपासना है। इसके पूर्व वर्णित श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण; नाम-महिमा के अन्तर्गत हैं। यह भक्ति भगवान् के चरण-कमलों की सेवा से सम्बन्धित है। प्रभु की दिव्य मूर्ति की स्थापना कर या मानस-मूर्ति के मनोहर चरण-कमलों में एकाग्रचित्त हो जाना ही पादसेवन भक्ति है। भगवान् के चरण कमलों की सेवा में आत्मा पवित्र हो जाती है।[2] इन्हीं के प्रक्षालन-जल से निकली गंगा के पावन जल को पाकर भगवान् शंकर भी शिवत्व को प्राप्त हुए।

(5) अर्चनः- अर्चन भक्ति का सम्बन्ध भी मूर्ति-पूजा से है। भगवान् की मूर्ति या मानस मूर्ति अर्थात् किसी भी प्रकार के हृदय को रुचिकर लगने वाले भगवान् के स्वरूप को यथायोग्य नानाविध उपचारों से श्रद्धाभक्ति-पूर्वक उनका सेवन-पूजन करना अर्चन भक्ति है। प्रभु की प्रतिमा की पूजा धूप-दीप, नैवेद्य आदि से करना, घी के दिये जलाना, उन्हें प्रसाद चढ़ाना इसी अर्चन भक्ति के अन्तर्गत आता है। इस विधिपूर्वक पूजा को भगवान् स्वीकार करते हैं। गीता में कहा गया है कि परम श्रद्धा और प्रेम के साथ भगवान् की पूजा की जाय तो वे स्वयं अपने दिव्य-मंगल-विग्रह स्वरूप में प्रकट होकर भक्त के अर्पण किये हुए पदार्थों को खाते हैं।[3]

---

1. अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
   तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। (श्रीमद्भागवद्गीता 8/14)
2. अहो कृतार्थास्मि जगन्निवास ते
   पादाब्जसंलग्नरजःकणादहम्।
   स्पृशामि यत्पद्मजशंकरादिभि-
   र्विमृग्यते रन्धितमानसैः सदा।। (अध्य० रामा० 1/5/43)
3. "पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
   तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।" -श्रीमद्भागवत 9/26

(6) वन्दन:- वन्दन-भक्ति का सम्बन्ध भी मूर्ति-उपासना से है। भगवान् की धातु आदि की मूर्ति, चित्र, शास्त्र-वर्णित स्वरूप या मानस मूर्ति को शरीर अथवा श्रद्धा से साष्टांग प्रणाम करना या समस्त चराचर भूतों को भगवान् का स्वरूप समझकर श्रद्धा से प्रणाम करना वन्दन भक्ति है।[1] वन्दन भक्ति की महत्ता गोस्वामी तुलसीदास ने समस्त संसार को सियाराममय जानकर की है।[2]

(7) दास्य-भक्ति:- भगवान् के रूप, गुण, तत्त्व, रहस्य और प्रभावादि को जानकर श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक उनकी सेवा करना तथा समझकर पालन करना दास्य भक्ति है। भक्त अपने को भगवान् का दास समझकर उनकी सेवा करता है और उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करता है। दास्यभाव की भक्ति से ही भगवान् के अनन्य प्रेम की प्राप्ति होती है। महाकवि तुलसीदास ने लिखा है कि बिना दास्य भाव के भवसागर से पार उतरना मुश्किल है।[3] वह भक्ति संवलित है। अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा की भावना विशेष होती है।

(8) सख्य भक्ति:- श्रीमद्भागवत में लिखा है कि "उन नन्द गोप के ब्रज में वास करने वाले लोगों का भाग्य धन्य है, जिनका मित्र परमानन्द परिपूर्ण सनातन ब्रह्म है।"[4] भगवान् के रूप, गुण, प्रभाव और महिमा को समझकर उनमें विश्वासपूर्वक मित्र भाव से उनकी स्तुति करना, उनकी रुचि के अनुसार कर्तव्य करना तथा उनके प्रति अनन्य प्रेम रखना, सख्य भक्ति है।

---

1. पतित: स्खलितश्चार्त: श्रुत्वा वा विवशो ब्रुवन्।
   हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्।। –श्रीमद्भागवत 12/12/46
2. "सीयाराममय सब जग जानी। करऊँ प्रनाम जोरि-जुग पानी"।।
   रामचरितमानस, बालकाण्ड 1/7/2
3. "सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिउ उरगारि।
   भजहु रामपद पंकज अस सिद्धान्त विचारी।।"
   रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड दोहा 9
4. "अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोप व्रजौकसाम्।
   यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।।"
   –श्रीमद्भागवत, 10/14/32

(9) आत्मनिवेदन:- यह भक्ति नवधा भक्ति-परिवार की अन्तिम भक्ति है। इसमें भक्त मनुष्य मन, वाणी और शरीर सब प्रकार से प्रभु के चरणों में अपने को न्यौछावर कर देता है। वह भगवान् के तत्त्व, प्रभाव, रहस्य तथा महिमा को हृदयस्थ कर, अहंकार-रहित हो और अपने तन, मन, धन, जन सहित अपने आपको प्रभु-चरणों में समर्पित कर देता है। इस तरह वह ब्रह्ममय हो जाता है।[1] भक्त प्रह्लाद और राजा बलि आदि में यह भावना विशेष रूप से विद्यमान थी।

5. पुष्टिमार्गीय भक्ति :

आचार्य वल्लभ भक्ति का उपदेश देने वाले आचार्य हैं। इनका जन्म मध्य प्रान्त के रायपुर जिले के चम्पारन नामक स्थान में हुआ। आपके पिताश्री लक्ष्मण भट्ट दक्षिण के कृष्ण-भक्त तैलंग ब्राह्मण थे। ये श्री नारायण भट्ट के शिष्य थे। विजयनगर के राजा कृष्णदेव की सभा में शैवों को पराजित करके वे दक्षिण से वृन्दावन आये और गोवर्धन पर श्रीनाथ-मन्दिर की स्थापना करके उन्होंने बालकृष्ण की भक्ति और पुष्टिमार्ग का प्रचार किया।[2] पुष्टिमार्ग शुद्धाद्वैतवाद सिद्धान्त पर आधारित है।[3]

आचार्य वल्लभ के मत में श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। वे अनन्त शक्तियों द्वारा अपनी आत्मा में अन्तर-रमण करने से आत्माराम और बाह्य रमण की इच्छा से अपनी शक्तियों की बाह्य अभिव्यक्ति करने पर पुरुषोत्तम कहलाते हैं।[4] श्रीकृष्ण का प्राकृत शरीर नहीं है, उनके प्राकृत गुण भी नहीं हैं, इसीलिए वे निर्गुण हैं। फिर भी वे सहस्रपाद, सहस्रकर, सहस्रमुख हैं।[5]

---

1. वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायण:।
   सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम्।। (वि॰ स॰ 130)
2. डॉ॰ मुन्शीराम शर्मा-"भक्ति का विकास", पृ॰-660-661
3. श्री लक्ष्मीकान्त 'मुक्त'-"सूर मीमांसा रहस्य", पृ॰-45
4. डॉ॰ मुन्शीराम शर्मा-"भक्ति का विकास", पृ॰-661
5. श्री लक्ष्मीकान्त 'मुक्त'-"सूर साहित्य रहस्य", पृ॰-45

आचार्य वल्लभ ने भगवत्-प्राप्ति के लिये पुष्टिमार्गीय भक्ति की परिकल्पना की है। दार्शनिक क्षेत्र में इनका मत शुद्धाद्वैतवाद कहलाता है। इसके अतिरिक्त आपका मत तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्मवादी या परिणामवादी भी कहलाता है तथा साधन की दृष्टि से इसे पुष्टि मार्ग कहते हैं। उन्होंने श्रीमद्भागवत के एक सन्दर्भ के आधार पर लिखा है कि भगवान् के अनुग्रह के बिना यह भक्ति नहीं होती। भगवान् के इस अनुग्रह को उन्होंने पोषण या पुष्टि कहा है।[1] जीव जब तक भगवान् के अनुग्रह या पुष्टि को प्राप्त नहीं करता तब तक वह आनन्द की प्राप्ति नहीं कर सकता। जिन भक्तों पर भगवान् पुष्टि या अनुग्रह करते हैं, उन्हें 'पुष्टि जीव' कहते हैं। पुष्टि जीव भी संसार (अहं और मम) के बन्धन में पड़ तो जाते हैं, परन्तु ऐसे जीवों में भक्ति का बीज बड़ी सरलता से अंकुरित होता है, ऐसे जीव पूर्ण रूप से भगवान् की कृपा पर निर्भर रहते हैं तथा आनन्दरूप श्रीकृष्ण को अनन्य प्रेम करते हैं।

प्रेम भक्ति द्वारा जीवात्मा का ब्रह्म के साथ जो सम्बन्ध स्थापित होता है उसे पुष्टिमार्ग में 'ब्रह्म सम्बन्ध' कहते हैं। गुरुदीक्षा के समय ही भक्त 'श्रीकृष्णः शरणं मम' का उच्चारण करके तन, मन, धन, पुत्र-स्त्री आदि सब कुछ श्रीकृष्ण को समर्पण कर देता है। फिर भक्त किसी वस्तु को अपना नहीं समझता। यदि वह कुछ ग्रहण करता है तो पहले भगवान् को समर्पित करके ही करता है।

साधन मार्ग तीन प्रकार के हैं-(अ) आधिभौतिक (कर्म मार्ग), (आ) आध्यात्मिक (ज्ञान मार्ग), (इ) परम मार्ग (भक्ति मार्ग)।[2] भक्ति मार्ग ही पुष्टि मार्ग है जो सर्वश्रेष्ठ है। श्रीवल्लभाचार्य ने दो प्रकार की भक्ति बतलायी है-(अ) मर्यादा भक्ति, (आ) पुष्टि भक्ति।[3]

(अ) मर्यादा भक्तिः- मर्यादा भक्ति वह है जो भजन-पूजन आदि साधनों से उपलब्ध हो। इसमें फल की अपेक्षा भक्ति की इच्छा

---

1. "यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।"
श्रीमद्भगवद्गीता, 15.18
2. डॉ॰ रंजन-भारतेन्दु युगीन काव्य में भक्तिधारा
3. वही

अधिक होती है। यह भक्ति सायुज्य प्रदान कराने में सहायता प्रदान करती है।

(आ) पुष्टि भक्तिः- पुष्टिमार्गी भक्ति में कर्म-काण्ड, योग, तप, ज्ञान आदि को स्थान नहीं दिया गया, केवल मर्यादा जीवों के लिए ये साधन कहे गये हैं। पुष्टि जीवों का साधन और साध्य एकमात्र श्रीकृष्ण को कहा गया है। आत्मसमर्पण इस भक्ति की प्रथम स्थिति है।[1] यह भक्ति साधन निरपेक्ष होने के कारण प्रभु के अनुग्रह पर ही आधारित है। पुष्टि भक्ति द्वारा जीव को पूर्ण मोक्ष प्राप्त हो जाता है और पूर्ण मोक्ष ही वल्लभ सम्प्रदाय का परम लक्ष्य है। भगवान् की तीन शक्तियाँ हैं-स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति एवं माया शक्ति। सत्, चित्, आनन्द से युक्त शक्ति को स्वरूप शक्ति, जीवों का आविर्भाव करने वाली शक्ति को तटस्थ शक्ति और प्रकृति और जगत् का जिस शक्ति से निर्माण होता है उसे माया शक्ति कहते हैं।

सेवा आठ प्रकार की है-मंगला रीति, श्रृंगार, गोपाल, राजभोग, उत्थान, भोग, साध्य एवं शायन।[2] श्रीवल्लभाचार्य ने श्रीनाथ जी की आठ दैनिक सेवाओं में कान्ता भाव को स्थान नहीं दिया था। परन्तु चैतन्य महाप्रभु आदि भक्तों द्वारा राधा-कृष्ण का रूप मान्य और लोकप्रिय हो जाने के कारण महाप्रभु के पुत्र गोसांई विट्ठलनाथ जी ने इस भक्ति में कान्ता भाव को भी स्थान दिया। कई ग्रन्थ लिखकर गोसांई जी ने माधुर्य भक्ति की स्थापना की।[3]

इस प्रकार आचार्य वल्लभ ने भक्ति का मार्ग जनसाधारण के लिए प्रशस्त किया। इन्होंने संन्यास धर्म का खण्डन कर यह बता दिया कि गृहस्थ रहकर भी भगवद्भक्ति सम्भव है। संन्यास धर्म का मार्ग अगम है। उसे सभी स्वीकार नहीं कर सकते हैं। गृहस्थ को संन्यास की दीक्षा नहीं दी जा सकती। अत: आचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्तिमार्ग संन्यास धर्म से अधिक सामाजिक है। गृहस्थ का कृष्ण मन्दिर में जाकर

---

1. डॉ॰ लक्ष्मीकान्त 'मुक्त'-"सूर-साहित्य मीमांसा"।
2. डॉ॰ रंजन-"भारतेन्दु युगीन काव्य में भक्ति धारा"।
3. डॉ॰ लक्ष्मीकान्त 'मुक्त'-"सूर मीमांसा रहस्य"।

पूजा की विविध विधियों में सम्मिलित होना पूर्णतया सम्भव है। वह दैनिक पूजा में सम्मिलित होकर कीर्तन में हरि-लीला-श्रवण आदि द्वारा प्रभु के निकट जा सकता है। कीर्तन एक सामूहिक पूजा है। यह अधिक सामाजिक है, क्योंकि यह सामूहिक साधन है। इस तरह इनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति रागात्मिका है, जो सर्वसाधारण के लिए सुलभ और सहज है।

इस प्रेम लक्षणा भक्ति में भगवान् के प्रति काम, क्रोध, भय, स्नेह, सख्य आदि भावों में से कोई भी भाव प्रधान हो सकता है। किन्तु वल्लभाचार्य ने श्रीनाथ जी के मन्दिर में नवनीतप्रिय के रूप में भगवान् के प्रति बालभाव (वात्सल्य) को अपनाया था। इस प्रकार सर्वप्रथम गोपाल कृष्ण की वात्सल्य भक्ति का प्रचलन इस सम्प्रदाय में हुआ था।

6. रहस्यवादी भक्ति :

'यदि रहस्यवाद की बात को लें, तब जायसी, कुतुबन और उस्मान वाला रहस्यवाद ही ऐसा है, जिसमें हम ईरानी सूफियों का स्पष्ट प्रभाव देख सकते हैं।'[1] प्रेम-लक्षण भक्ति-भावना को सूफियों ने प्रभावित किया। रहस्यवादी सूफियों की उपासना भी माधुर्य भाव की थी।[2] मुस्लिम काल में इन सूफियों का प्रभाव देश की भक्ति-भावना के स्वरूप पर बहुत कुछ पड़ा। माधुर्य भाव को प्रोत्साहन मिला। माधुर्य भाव की जो उपासना चली आ रही थी उसमें सूफियों के प्रभाव से 'आभ्यंतर मिलन', 'मूर्च्छा', 'उन्माद' आदि की भी रहस्यमयी योजना हुई।[3] मीराबाई और चैतन्य महाप्रभु दोनों पर सूफियों का प्रभाव पाया जाता है।[4] सूफियों के आदर्शानुसार केवल पुरुष की ओर से स्त्री के प्रति प्रदर्शित किए जाने वाले प्रेम को ही अधिक महत्त्व दिया जाता रहा और इसी बात को ये ईश्वरीय प्रेम के सम्बन्ध में भी घटाने की चेष्टा करते रहे।[5] किन्तु इसके कारण यहाँ कोई बाधा नहीं पड़ सकी और भारतीयों ने अपने स्त्री की ओर से पुरुष के प्रति व्यक्त किए जाने वाले प्रेम के

---

1. डॉ॰ रामधारी सिंह दिनकर–"संस्कृति के चार अध्याय", पृ॰–388
2. डॉ॰ गिरिधारीलाल शास्त्री–"हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि", पृ॰–22।
3. –वही–
4. डॉ॰ रामचन्द्र शुक्ल–"हिन्दी साहित्य का इतिहास" पृ॰–193
5. डॉ॰ गिरिधारीलाल शास्त्री–"हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि" पृ॰–22।

आदर्श का निर्वाह; दाम्पत्य भाव की भक्ति का एक ऐसा मार्ग निकाल कर किया, जिनके अनुसार केवल परमात्मा ही एकमात्र पुरुष समझा गया और सभी आत्माएँ उसकी नारियाँ मान ली गईं।[1]

इस प्रकार, 'इस पद्धति के अनुसार आत्मा प्रेमी और परमात्मा प्रेमिका मानी जाती है।[2]' प्रेमी कोई राजकुमार और प्रेमिका कोई राजकुमारी होती है। आत्मा को जगाने के लिए कोई गुरु आता है जो राजकुमारी के रूप का वर्णन करता है तथा जिसे सुनकर राजकुमार के हृदय में प्रेम अंकुरित होता है। वह राजकुमारी को पाना चाहता है, किन्तु उसके पास पहुँचने से पूर्व, राजकुमार को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है।[3] सूफी भाषा में ये बाधाएँ माया के रूपक हैं, शैतान के खेल हैं। फिर राजकुमार और राजकुमारी का विवाह हो जाता है। कभी-कभी विवाह के बाद वियोग भी होता है। इस पद्धति की अभारतीयता यह है कि इसमें परमात्मा को नायिका का रूप दे देते हैं, जबकि भारतीय दृष्टिकोण से परमात्मा ही पुरुष और आत्मा ही नारी मानी जाती है।

सूफियों ने परमात्मा को सौन्दर्य का प्रतीक और प्रेम को उसे पाने की राह माना था। इसी सिद्धान्त को कथा में अनूदित करने के प्रयास से जायसी वाली शैली का जन्म हुआ।[4] सूफी सौन्दर्य और प्रेम के मतवाले थे। हिन्दी में जो रहस्यवादी कथा-काव्य विद्यमान हैं, उन पर ये लक्षण घटते हैं।

इस रहस्यवादी परम्परा के मुख्य आचार्य श्री चैतन्य महाप्रभु ने 'राधा और कृष्ण की युगल उपासना को अपने सम्प्रदाय में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। उनके अनुसार श्रीकृष्ण की भक्ति के पाँच भेद किये जा सकते हैं– (अ) शान्त रसमयी भक्ति, जिसका उदाहरण योगियों और सनकादि ऋषियों में मिलता है, (आ) दास्य भक्ति, जो हनुमान् जैसे

---

1. डॉ॰ गिरिधारीलाल शास्त्री–"हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि", पृ॰–221
2. डॉ॰ रामधारी सिंह दिनकर–"संस्कृति के चार अध्याय", पृ॰–388
3. –वही– पृ॰ 389
4. डॉ॰ रामधारी सिंह दिनकर–"संस्कृति के चार अध्याय", पृ॰–389

भक्तों में दिखाई देती है, (इ) सख्य भक्ति, जो अर्जुन, श्रीदामा आदि में मिलती है, (ई) वात्सल्य भक्ति, जिसके उदाहरण नन्द और यशोदा हैं, (उ) माधुर्य-भक्ति, जो गोपियों और विशेषकर राधा में मिलती है। ये पाँचों क्रमशः एक दूसरे से बढ़कर हैं और अन्तिम सर्वश्रेष्ठ है।'[1] इन्होंने मधुर रस को साधना में विशेष महत्त्व दिया है।[2] चैतन्य महाप्रभु द्वारा कथित इस श्लोक– 'हे सखि, वह लम्पट कृष्ण अपने चरणों में रत रहने वाली मुझ दासी को अपने हृदय से लगाए, या चाहे विरह से मर्माहत कर दें, जो कुछ जी में आए करें, किन्तु मेरे प्राण नाथ तो वहीं हैं और कोई नहीं।'[3]– से रहस्यवादी भक्ति स्पष्ट लक्षित होती है। इन्होंने माधुर्य-भाव की भक्ति सर्वोत्कृष्ट मानी है। यह भाव अपने उत्कर्ष पर पहुँच कर 'महाभाव' या 'राधाभाव' कहलाता है।[4]

इस रहस्यवाद से भिन्न जो कबीर, दादू और नानक का रहस्यवाद है, उसकी परम्परा सूफियों के यहाँ से नहीं आयी। अस्पष्ट भाषा में निगूढ भावों को दर्शाने का प्रयास, अपूर्ण भाषा के द्वारा किसी पूर्ण सत्य की ओर इंगित करने की चेष्टा एवं जिस गहराई या ऊँचाई तक वाणी नहीं जा सकती, उसे अभिव्यक्ति देने की अधूरी कोशिश, ये बातें कबीर, दादू, नानक और नामदेव में भी हैं और आठवीं नवीं सदी के सिद्धों में भी।[5]

इस प्रकार भक्ति-परम्परा में तीन प्रकार के कवि उत्पन्न हुए। एक तो वे जो कथा-काव्य की प्रणाली से रहस्यवाद का कथन करते थे, जिनके सिरमौर जायसी हैं। दूसरे वे, जो निर्गुण का उपदेश करते थे और साथ ही वर्णाश्रम-धर्म की निन्दा भी, जिनके अग्रणी कबीर हुए और तीसरे वे जो वर्णाश्रम-धर्म के साथ तो थे, किन्तु भक्त होने के कारण सभी मनुष्यों से प्रेम करते थे। इस सरणि के चार प्रसिद्ध कवि विद्यापति,

1. डॉ॰ गिरिधारीलाल शास्त्री–"हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि", पृ॰–208-209
2. डॉ॰ एम॰ जार्ज–"भक्ति आन्दोलन और साहित्य", पृ॰–179
3. प्रभुदत्त ब्रह्मचारी–"श्री चैतन्यचरितावली" भाग-5, पृ॰–265
4. डॉ॰ गिरिधारीलाल शास्त्री–"हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि", पृ॰–211
5. डॉ॰ रामधारी सिंह दिनकर–"संस्कृति के चार अध्याय", पृ॰–389

चण्डीदास, सूरदास और तुलसीदास हैं।[1] इनके काव्य का जो रहस्यवादी अंश है, उसमें वेदान्त भारतवर्ष का है, किन्तु विरह की बेचैनी सूफीवाद से आयी है।

"चूँकि रहस्यवादी अनुभूति का साधन ज्ञान नहीं, परम या सम्यक् ज्ञान है, इसलिए आज के बुद्धिवादी; रहस्यवाद को शंका की दृष्टि से देखते हैं। रहस्यवादी सन्तों को फ्रायड ने बौद्धिक पागल कहा है। दूसरे अनेक बुद्धिवादियों का कहना है कि रहस्यवाद सुनहले भावावेश में वस्तुओं को धूमिलता से देखने की प्रवृत्ति है।[2] राधाकृष्णन् कहते हैं कि बुद्धिवादियों ने जो इतनी बातें कही हैं, रहस्यवाद उनमें से एक भी नहीं है। यह तो केवल इस बात की स्वीकृति है कि सृष्टि के भीतर रहस्यात्मकता विद्यमान है। बुद्धि के साधनों से भी तो अब तक यही विदित हुआ है कि सारी सृष्टि रहस्यमय है।

---

1. डॉ० रामधारी सिंह दिनकर–"संस्कृति के चार अध्याय", पृ०–390
2. –वही– पृ०–657

चतुर्थ अध्याय

शिवस्तोत्रावली में भक्ति का स्वरूप

शिवस्तोत्रावली में प्राप्त भक्ति-भावना का स्वरूप निर्धारित करने के लिए, उत्पलदेवाचार्य द्वारा वर्णित भक्ति के विभिन्न अवयवों का विवेचन-विश्लेषण करना अत्यावश्यक है अर्थात् भक्ति के तीन पक्षों-उपासक, उपास्य और उपासना की मीमांसा आवश्यक है। भक्ति-मार्ग में उपासक अपने आचार तथा शुद्ध भावना से उपास्य को प्रसन्न ही नहीं करता, अपितु उसके साथ गहन सान्निध्य प्राप्त कर ऐक्यानुभव भी करता है। यहाँ वह अपने उपास्य के लीला-भाव का साक्षात्कार करने की कामना करता दिखाई देता है। वह अपने आराध्य के उदात्त एवं विराट् रूप का अन्तर्मन से अनुभव करता हुआ उसके माहात्म्य को प्रकाशित करता है। इन उपासक और उपास्य के सामीप्य का साधन उपासना है। उपासना अथवा भक्ति का आलम्बन जन-सामान्य में भगवान् ही माना जाता है। अत: उपासना द्वारा उपासक उपास्य से तादात्म्य स्थापित कर सकता है। इस प्रकार से भक्ति के तीन अवयवों अर्थात् उपासक, उपास्य एवं उपासना का यहाँ विस्तारपूर्वक विश्लेषण-विवेचन करना अनिवार्य है।

उपासक :

उपासक अपने आराध्य के प्रति श्रद्धा और प्रेम दोनों भाव धारण किए हुए होता है। अपने आराध्य के सुकर्मों और उसके आकर्षक व्यक्तित्व के प्रति उसकी अटूट श्रद्धा होती है। प्रेम की भावना नि:स्वार्थ रूपा होती है अर्थात् उपासक अपने उपास्य से कुछ चाहता नहीं है। वह व्यक्तिगत आधार पर अपने उपास्य से केवल यही चाहता है कि उनकी

कृपा सदा बनी रहे। यह व्यापक प्रेम होता है। अतः प्रत्येक उपासक की कामना होती है कि जैसा उसका प्रेम-भाव है, वैसा ही प्रेमभाव अन्य लोग भी धारण करें। इससे उसके मन का भक्ति-भाव भी सुदृढ़ होता है।

अविवेकी पुरुष की स्थूल शरीर में आसक्ति के समान ही उपासक भगवान् में आसक्त रहता है। अतएव नारद-भक्ति सूत्र में उसे तन्मया कहा गया है। भक्त की ममता परमात्मा के अतिरिक्त और किसी में नहीं रहती। निस्पृहता के कारण वह न मान-प्रतिष्ठा का भूखा होता है और न लोक को रिझाने की चेष्टा करता है। उसका लक्षण हेतु-रहित परोपकार व्रत है। उत्पलदेवाचार्य ने उन्हें महताम्[1] (महापुरुषों अर्थात् भक्त जनों की) धनानाम्[2] (भक्ति से धनी भक्त) एवं वीर-जनः[3] (संसार रूपी बड़े पशु को मारने वाले) की संज्ञा दी है।

उपासक के लक्षण – भक्तों के लक्षणों का उल्लेख भी शिवस्तोत्रावली में मिलता है। उत्पलाचार्य कहते हैं कि 'भक्त-जन माया-सम्बन्धी काल, नियति और राग आदि का ग्रास करके इस जगत् रूपी समुद्र के तट पर सुखी होकर विहार करते हैं अर्थात् उनको अपूर्णता का सर्वथा अभाव होने से पूर्णतामय स्थिति प्राप्त होती है।'[4] 'जिसका मन आदर, अनादर तथा राग, आदि द्वन्द्वों के परिपक्व होने से (अर्थात् समाप्त होने से) निर्मल हो जाता है, वह भक्त सामान्य लोगों के समान चरित्र वाला कैसे हो सकता है? अर्थात् उसका चरित्र लोगों से बढ़-चढ़कर अलौकिक होता है।'[5] तथा 'जिन्होंने भक्ति के तेज से राग-द्वेष रूपी अन्धकार को भी जीत लिया हो (अर्थात् नष्ट किया हो),

1. "महताममरेश पूज्यमानोऽप्यनिशं तिष्ठसि पूजकैकरूपः।
बहिरन्तरपीह दृश्यमानः स्फुरसि दृष्टृशरीर एव शश्वत्।।" –शिवस्तोत्रावली, 4/25
2. "ध्यातमात्रमुपतिष्ठत एव त्वद्वपुर्वरद भक्तिधनानाम्।
अप्यचिन्त्यमखिलाद्भुतचिन्ताकर्तृतां प्रति च ते विजयन्ते।।"–वही, 20/19
3. "तावकभक्तिरसासवसेकादिव सुखितमर्ममण्डलस्फुरितैः।
नृत्यति वीरजनो निशि वेतालकुलैः कृतोत्साहः।।" –वही, 20/20
4. "मायीयकालनियतिरागाद्याहारतर्पिताः।
चरन्ति सुखिनो नाथ भक्तिमन्तो जगत्तटे।।" –वही, 15/2
5. "मानावमानरागादिनिष्पाकविमलं मनः।
यस्यासौ भक्तिमांल्लोकतुल्यशीलः कथं भवेत्।।"–वही, 16/15

उन महान् पुरुषों के सामने ज्ञानी जन कौन है? (अर्थात् किस गिनती में हैं) अर्थात् भक्त ज्ञानी से बड़ा है।'[1] 'उपहार के रूप में अर्पित किए गए काम, क्रोध और अभिमान (रूपी उपचारों) से जो आपको (भगवान् को) सदैव पूजते हैं, उनको प्रणाम हो, तत्त्व-दृष्टि से आप उन्हीं पर प्रसन्न होते हैं।'[2] इस प्रकार उपासक माया सम्बन्धी राग, काल, नियति, कला एवं विद्या कञ्चुकों से ऊपर होता है तथा राग-द्वेष एवं काम, क्रोध और अभिमान से पूर्णरूपेण ऊपर होता है। अर्थात् सच्चा भक्त इन सभी अवस्थाओं को जीत लेता है। इसी तथ्य के समर्थन में आचार्य उत्पलदेव कहते हैं, 'हे ईश्वर! आपकी उपासना करते-करते आपका उपासक सारी वासनाओं रूपी गाँठों के कट जाने अर्थात् नष्ट होने से निष्कपट बना हुआ अपना सुन्दर मन सदा (आपको) अर्पण करता है।"[3] "संसार जाने वाला समझा यह इन्द्रियों का व्यवहार भी भक्त–जनों के लिए भीतर अलौकिक पूजा के बड़े उत्सव को प्राप्त करा कर उसकी पुष्टि करता है।"[4] तथा "हे परमेश्वर! आपसे परिपूर्ण अपनी आत्मा में निवास करने से प्राप्त किए गए ऐश्वर्य की अधिकता से आपके चरणों की पूजा करने वाला जो भक्त लगातार भोजन तथा वस्त्र (आदि) की भी इच्छा नहीं रखता, उसको मैं प्रणाम करता हूँ।"[5]

इस प्रकार से उपासक माया सम्बन्धी पञ्चकञ्चुकों, राग-द्वेष, काम, क्रोध एवं अभिमान से परे सारी वासनाओं के नष्ट हो जाने से निष्कपट होता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियाँ जो स्वभाव से ही चंचल होती हैं, इसको (भक्त के) आत्म-साक्षात्कार करने के मार्ग में कोई

---

1. "रागद्वेषान्धकारोऽपि येषां भक्तित्विषा जितः।
तेषां महीयसामग्रे कतमे ज्ञानशालिनः।।"–वही, 16/16
2. "कामक्रोधाभिमानैस्त्वामुपहारीकृतैः सदा।
येऽर्चयन्ति नमस्तेभ्यस्तेषां तुष्टोऽसि तत्त्वतः।।" –वही, 17/47
3. "अशेषवासनाग्रन्थिविच्छेदसरलं सदा।
मनो निवेद्यते भक्तैः स्वादु पूजाविधौ तव।।"–वही, 17/15
4. "भक्तानामक्षविक्षेपोऽप्येष संसारसंमतः।
उपनीय किमप्यन्तः पुष्णात्यर्चामहोत्सवम्।।"–वही, 17/38
5. "भवन्मयस्वात्मनिवासलब्धसम्पद्भराभ्यर्चितयुष्मदङ्घ्रिः।
न भोजनाच्छादनमप्यजस्रमपेक्षते यस्तमहं नतोऽस्मि।।"–वही, 18/4

विघ्न नहीं डालती, अपितु उसमें सहायक ही बन जाती हैं। ऐसे उपासक को भोजन तथा वस्त्र (आदि) की भी इच्छा नहीं रहती। ऐसे अलौकिक–लक्षण भक्त के बताये गये हैं।

इसके अतिरिक्त भक्त को 'ब्रह्मा' आदि देवताओं का स्वामी'[1], 'भक्ति के तेज से विवश (तप्त) आत्मा वाला'[2], 'प्रभु भक्ति के मद से मतवाला बना हुआ'[3] तथा 'भक्ति–रूपिणी सम्पत्ति से सुशोभित'[4] आदि विशेषणों से सजाया गया है। ऐसे भक्तों की प्रशंसा में कहा गया है कि ये प्रभु का साक्षात्कार करके भी संसार में मानवता के विकास के लिए संसार में ही रहकर लेकिन आन्तरिक रूप से जागरूक होकर मानवों को शुद्ध मार्ग-दर्शन कराते हैं। जैसा कि उत्पलाचार्य के इस कथन से प्रतीत होता है कि–'निस्सन्देह ऐसे विरले अर्थात् अलौकिक पुरुष भी सैंकड़ों होते हैं जो किसानों अर्थात् अज्ञ-जनों की भाँति व्यवहार करते हुए भी आपके (प्रभु के) प्रभाव से आपके चिदानन्द स्वरूप का सदा (अर्थात् व्युत्थान में भी) प्रत्यक्ष रूप में इन्हीं नेत्रों से साक्षात्कार करते हैं।"[5]

यहीं यह भी कहा गया है कि 'भगवान् को खोजने के लिए अथवा उस परमतत्त्व तक पहुँचने के लिए संसार को त्यागना आवश्यक नहीं है, परन्तु इसी दुःखालय जगत् को भगवान् का जीता जागता तथा जाज्वल्यमान स्वरूप समझकर, इसी के बीच में रहते हुए, सभी लौकिक कार्यों को करते हुए, सच्चे उपासक भगवान् के साक्षात्कार का आनन्द

---

1. "ब्रह्मादीनामपीशास्ते ते च सौभाग्यभागिनः।
येषां स्वप्नेऽपि मोहेऽपि स्थितस्त्वत्पूजनोत्सवः।।"–वही, 17/7
2. "भक्तानां भक्तिसंवेगमहोष्मविवशात्मनाम्।
कोऽन्यो निर्वाणहेतुः स्यात्त्वत्पूजामृतमज्जनात्।।"–वही, 17/17
3. "न प्राप्यमस्ति भक्तानां नाप्येषामस्ति दुर्लभम्।
केवलं विचरन्त्येते भवत्पूजामदोन्मदाः।।"–वही, 17/23
4. "भवदङ्गपरिस्रवत्सुशीतामृतपूरैर्भरिते समन्ततोऽपि।
भवदर्चनसम्पदेह भक्तास्तव संसारसरोऽन्तरे चरन्ति।।" –वही, 18/9
5. "शतशः किल ते तवानुभावाद्भगवन्केऽप्यमुनैव चक्षुषा ये।
अपि हालिकचेष्टया चरन्तः परिपश्यन्ति भवद्वपुः सदाग्रे।।" –वही, 12/21

लेते हैं।"[1] इस प्रकार से उत्पलदेवाचार्य संन्यास–आश्रम में विश्वास न करते हुए, गृहस्थ-आश्रम में ही विश्वास रखते हैं। उपासक सांसारिक बन्धनों में रहते हुए भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। आचार्य उत्पलदेव कहते हैं कि भगवान् शंकर का मार्ग ऐसा है जहाँ (अर्थात् जिस मार्ग पर चलने से) दु:ख भी सुख बन जाते हैं, विष भी अमृत बन जाता है और संसार भी मोक्ष (की प्राप्ति) का साधन बन जाता है।[2]

उपासक की चरम दशा मुक्ति की दशा कहलाती है जहाँ उपासक और उपास्य दोनों में अद्वैत सम्बन्ध स्थापित होता है। यह अनिर्वचनीय दशा है, जो केवल आत्मानुभूति पर ही निर्भर करती है। इस दशा में पहुँचा हुआ भक्त अखण्ड आनन्द का अधिकारी होता है और इसी दशा में कश्मीर शैव दर्शन के अनुसार समरसता सम्भव होती है। अद्वैतवादी वेदान्त में इसीको भूमा की स्थिति माना गया है अर्थात् भक्त की वह चरम दशा, जहाँ अपने-पराये का भाव पूर्णत: पर्यवसित हो जाता है। ऐसी चरमदशा पर पहुँचे हुए भक्त का उल्लेख करते हुए उत्पलदेवाचार्य कहते हैं–'हे प्रभु! जो (आपका भक्त) बाहरी जगत् (अर्थात् वस्तुओं) को (अपने) हृदय में ही प्रत्याहृत करके (स्वरूप समावेशात्मिका) भक्ति रूपी अमृत रस की धाराओं से आप चिद्रूप प्रभु की ही पूजा करता है, उस भक्ति-शाली को नमस्कार करता हूँ।"[3] इस प्रकार यह भक्त सम्पूर्ण जगत् को अपने हृदय में समाविष्ट करता है। ऐसा भक्त प्रभु की पुरी में (चिद्रूप में) रहता है और व्युत्थान में भी उसका व्यवहार उसी (चिदानन्द स्वरूप) के विकास से होता है।[4] यह भक्त

1. "न क्वापि गत्वा हित्वापि न किञ्चिदिदमेव ये।
भव्यं त्वद्धाम पश्यन्ति भव्यास्तेभ्यो नमो नम:।।"–वही, 20/10
"निवसन्परमामृताब्धिमध्ये भवदर्चाविधिमात्रमग्नचित्त:।
सकलं जनवृत्तमाचरेयं रसयन्सर्वत एव किञ्चनापि।।" –वही, 18/13
2. "दु:खान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्ग: स शाङ्कर:।।" –वही, 20/12
3. "बाह्यं हृदय एवान्तर अभिहृत्यैव योऽर्चति।
त्वामीश भक्तिपीयूषरसपूरैर्नमामि तम्।।" –वही, 15/5
4. "लब्धत्वत्संपदां भक्तिमतां त्वत्पुरवासिनाम्।
सञ्चारो लोकमार्गेऽपि स्यात्तयैव विजृम्भया।।" –वही, 1/3

भक्ति-अमृत-रस रूपी उत्तम आसव को पीकर, उन्मत्त होकर अनुपम अर्थात् असाधारण स्वरूप वाले होते हुए भी प्रभु के समान स्वरूप वाले होते हैं।[1] 'प्रभु के असीम आनन्द रूपी समुद्र के सार-भूत स्वरूप को ये भक्तजन ही जानते हैं।'[2] ऐसे प्रभु के भक्त धन्य हैं, जिनके लिए यह (भयप्रद) संसार रूपी समद्र ही क्रीड़ा अर्थात् मनोरंजन का काम देने वाला एक बड़ा सरोवर है।[3] अतः चरम दशा पर पहुँचे हुए भक्त के लिए संसार मोह का कारण नहीं बनता है। इन्द्रिय, आदि को वश में करके वह जगत् के प्रति आकर्षित नहीं होता है, अपितु उसको अपना क्रीड़ास्थल समझता है। 'ये उपासक प्रभु के चरण रूपी कमलों के आसन पर बैठे हुए अपनी रुचि के अनुसार जगत् का निर्माण करते हैं, अधिकार के विकार से पूर्ण रूप में लिप्त और इसीलिए पराधीन बने हुए ब्रह्मा जी पर ये भक्त-जन हँसते हैं।[4] आचार्य उत्पलदेव के इस कथन से प्रतीत होता है कि चरम दशा पर पहुँचा हुआ उपासक तो भगवान् शिव का ही स्वरूप होता है, जिसमें इतनी शक्ति होती है कि वह संसार को अपनी इच्छानुसार निर्मित करता है।

चरम दशा पर पहुँचे हुए भक्तों की आत्मा भगवान् शिव से मिली हुई होती है। उत्पलदेवाचार्य कहते हैं कि 'ऐसे भक्तों अर्थात् शिव में मिली हुई आत्मा वाला शिव का भक्त कौन सा सुख प्राप्त नहीं कर सकता अर्थात् वह परमानन्द पूर्ण हो जाता है।'[5] इन भक्त जनों की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य उत्पलदेव कहते हैं, "जिन भक्त-जनों को प्रभु की पूजा रूपी अमृत-पान का चमत्कार पूर्ण आनन्द हर समय

1. "जयन्ति भक्तिपीयूषरसासववरोन्मदाः।
अद्वितीया अपि सदा त्वद्द्वितीया अपि प्रभो।।"—वही, 1/5
2. "अनन्तानन्दसिन्धोस्ते नाथ तत्त्वं विदन्ति ते।
तादृशा एव ये सान्द्रभक्त्यानन्दरसाप्लुताः।।"—वही, 1/6
3. "जयन्ति ते जगद्वन्द्या दासास्ते जगतां विभो।
संसारार्णव एवैष येषां क्रीडामहासरः।।"—वही, 3/15
4. "तावकाङ्घ्रिकमलासनलीना ये यथारुचि जगद्रचयन्ति।
ते विरिञ्चिमधिकारमलेनालिप्तमस्ववशमीश हसन्ति।" —वही, 4/5
5. "शिवदासः शिवैकात्मा किं यन्नासादयेत्सुखम्।
तर्प्योऽस्मि देवमुख्यानामपि येनामृतासवैः।।"—वही, 10/25

प्राप्त होता है, वे लोग क्या देवता होते हैं या मुक्त होते हैं अथवा क्या वे बिल्कुल अलौकिक होते हैं?"[1] अर्थात् जो भक्त-जन निरन्तर प्रभु की समावेशमयी पूजा में लगे रहते हैं, वे परम सौभाग्यशाली होते हैं। उनकी महिमा का वर्णन शब्दों में करना कठिन है। उनकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है। उत्पलदेवाचार्य इन भक्त-जनों को प्रणाम करते हुए कहते हैं, "जिन (परमानन्द पूर्ण होने के कारण) सौभाग्यशाली भक्तों के देवता (इष्ट देव) महादेव हैं, जिनकी सभी चेष्टाएँ महादेव के अनुकूल होती हैं और जिनका सारा जीवन केवल महादेव की भक्ति में ही लीन बना रहता है, उन भक्त-जनों को मैं सदा प्रणाम करता हूँ।"[2]

उत्पलदेवाचार्य के अनुसार इस चरमदशा पर पहुंचे हुए 'भक्त के लिए भक्ति रूपी अमृत ही नहाने, पीने आदि सभी कार्यों के करने का साधन होता है अर्थात् जो अपने सभी कार्य भक्ति रूपी अमृत से करता है, उस भक्त के सभी कार्यों की आदि, मध्य तथा अन्तिम दशाओं में परमानन्द रूपी सर्वोत्कृष्ट सुख होता है।"[3] अर्थात् ऐसे भक्त का सारा जीवन परमानन्द में मग्न रहता है। इन भक्त-जनों को कभी भी भगवान् शिव के वियोग में नहीं रहना पड़ता है।[4] भक्ति-मार्ग में प्रभु सदा अपने सच्चे भक्त के साथ रहते हैं।

उत्पलाचार्य ने आगे इस चरमदशा पर पहुँचे हुए भक्त की तुलना एक वृक्ष से की है। "जिस भक्त रूपी उत्तम पेड़ की अपनी आत्मा का कारण (अर्थात् जन्मदाता) रूपी जड़ ईश्वर ध्यान रूपी अमृत से परिपूर्ण और अविनाशी हो, उस अलौकिक भक्तरूपी उत्तम पेड़ की विषय-ज्ञान रूपी शाखायें भी वैसी ही ध्यानामृतमय और परिपूर्ण होती

1. "पूजामृतापानमयो येषां भोगः प्रतिक्षणम्।
किं देवा उत मुक्तास्ते किं वा केऽप्येव ते जनाः।।" -वही, 17/34
2. "वन्दे तान् दैवतं येषां हरश्चेष्टा हरोचिताः।
हरैकप्रवणाः प्राणाः सदा सौभाग्यसद्मनाम्।।" -वही, 20/3
3. "यस्य भक्तिसुधास्नानपानादिविधिसाधनम्।
तस्य प्रारब्धमध्यान्तदशासूच्चैः सुखासिका।।" -वही, 16/17
4. "आवेदकादाच वेद्याद्येषां संवेदनाध्वनि।
भवता न वियोगोऽस्ति ते जयन्ति भवज्जुषः।।" -वही, 16/27

हैं।"[1] भक्त उसी प्रकार से प्रभु–शक्ति को प्रभु-भक्ति से प्राप्त करता है जैसे कि वृक्ष फलने–फूलने के लिए अपनी जड़ों से शक्ति प्राप्त करता है। यहाँ भक्त की शक्ति का आधार प्रभु को ही माना गया है। जितनी महत्त्वपूर्ण पेड़ की जड़ें होती हैं, उतना ही महत्त्वपूर्ण भक्त के लिए प्रभु हैं। जिस प्रकार बिना जड़ों के वृक्ष विकसित नहीं होता है, उसी प्रकार से बिना प्रभु के भक्त का विकास भी असम्भव है। प्रभु के अनुग्रह से ही भक्त में भक्ति का प्रसार होता है और वह (भक्त) चरम दशा पर पहुँचकर प्रभु के समावेश का परमानन्द प्राप्त करता है। इस भक्ति के सञ्चार से भक्त की सभी क्रियाएँ एवं विषय ज्ञान रूपी शाखाएँ भक्ति–अमृत से परिपूर्ण हो जाती हैं। इस भक्त में भक्ति का ऐसा संचार होता है कि वह व्युत्थान में भी इन्द्रियों आदि द्वारा वश में नहीं होता है, परन्तु अपना सन्तुलन लोक-मार्ग (अर्थात् संसार) में भी बनाए रखता है। अर्थात् ऐसा भक्त संसार में रहकर भी संसार से परे होता है।

यह भक्त भक्ति की चरमसीमा तक पहुँचने पर समावेश का आनन्द उठाने में समर्थ होता है, जिसके फलस्वरूप उसे परमानन्द का लाभ होता है। इस विचार को लेकर उत्पलाचार्य कहते हैं, "हे परमात्मा! भक्ति की तीव्रता रूपिणी खुजली के चमक उठने से समय पर (समावेशमयी) पूजा रूपी कसौटी के पत्थरों का बड़ा खम्भा उत्पन्न होता है।"[2] अर्थात् जिस प्रकार खम्बे आदि के साथ रगड़ने से खुजली की तीव्रता शान्त होती है उसी प्रकार भगवान् शंकर की भक्ति की चरमसीमा तक पहुँचने पर भक्त की उस भक्ति की तीव्रता को केवल शंकर ही (अपने समावेश में लेकर) शान्त करते हैं। भक्त इस चरमदशा में पहुँचकर 'भक्ति रूपी मधु के सेचन से आनन्दित होकर, उत्साहित होकर (चिद्विकास सम्पन्न होकर) संसार रूपी बड़े पशु को मारने वाले

---

1. "ध्यानामृतमयं यस्य स्वात्ममूलमनश्वरम्।
संविल्लतास्तथारूपास्तस्य कस्यापि सत्तरोः।।" –वही, 20/7
2. "भक्तिकण्डूसमुल्लासावसरे परमेश्वर।
महानिकषपाषाणस्थूणा पूजैव जायते।।" –वही, 20/8

(शूर-वीर लोग) (भक्त जन) रात में ही (माया रूपिणी रात में) चिद्-विकास से नाच उठते हैं।"[1] उत्पलाचार्य के अनुसार ऐसे 'धनी भक्तों को ध्यान लगाते ही तत्क्षण प्रभु की उपलब्धि होती है और इस सौभाग्य के बल पर वे चमत्कारपूर्ण कार्य कर सकते हैं।'[2] इस प्रकार जो बात औरों के लिए असम्भव होती है, वह प्रभु के भक्तों के लिए साधारण सा कार्य होता है। यहाँ इतना महत्त्व चरम दशा में पहुंचे हुए भक्त को प्राप्त हुआ है।

इस भक्त की चरमदशा का वर्णन उत्पलदेव इस प्रकार करते हैं, "प्रभु के समावेशशाली भक्तों को न तो दुःख होते हैं, न प्रभु के स्वात्मस्वरूप की प्राप्ति की अभिलाषा के कारण चिन्ता ही होती है, तो भी परमानन्द से अभिन्नता को सूचित करने वाला, अलौकिक 'हे शिव' ऐसा शब्द बाहर से (अर्थात् व्युत्थान दशा में) इन भक्तों के मुख में रहता है।[3] यह शब्द इनके मुख से आप से आप ही उच्चरित होता रहता है। इस प्रकार भक्त की चरम दशा का वर्णन उपर्युक्त कथन में तो मिलता है, परन्तु उसके जीवन्मुक्त होने का वर्णन कुछ इस प्रकार हैं, "स्थल, जल और तृण आदि समस्त वेद्य वर्गों से (अर्थात् परिमित वेद्य दशा से)जिन्हें प्रभु अलौकिक अनुग्रह शक्ति से उठाकर अर्थात् उनका उद्धार करके उन पर परमानन्द रूपी सृष्टि से बहती हुई अमृत की धारायें बरसाते हैं, वे भक्तजन एक अलौकिक (पारमार्थिक) स्वभाव के बड़े (अर्थात् असाधारण) चिह्न से प्रकाशित होकर कैसे इस संसार में फिर जन्म ले सकते हैं और कैसे वे लोगों के दृष्टिमार्ग में (अर्थात् वेद्य रूपता में) आ सकते हैं।"[4] अर्थात् जिन भक्तों पर प्रभु की दशा दृष्टि,

---

1. "तावकभक्तिरसासवसेकादिव सुखितमर्ममण्डलस्फुरितैः।
नृत्यति वीरजनो निशि वेतालकुलैः कृतोत्साहः।।" –वही, 20/20
2. "ध्यातमात्रमुपतिष्ठत एव त्वद्वपुर्वरद भक्तिधनानाम्।
अप्यचिन्त्यमखिलाद्भुतचिन्ताकर्तृतां प्रति च ते विजयन्ते।।" –वही, 20/19
3. "भक्तानां नार्तयो नाप्यस्त्याध्यानं स्वात्मनस्तव।
तथाप्यस्ति शिवेत्येतत्किमप्येषां बहिर्मुखे।।" –वही, 20/15
4. "कथं ते जायेरन्कथमपि च ते दर्शनपथं
व्रजेयुः केनापि प्रकृतिमहताङ्केन खचिताः।
तथोत्थायोत्थाय स्थलजलतृणादेरखिलतः
पदार्थाद्यान्सृष्टिस्रवदमृतपूरैर्विकिरसि।।" –वही, 12/3

आनन्द अमृत-धारा छिटकती है, वे सदा के लिए जन्म-मरण के चक्र से छूट जाते हैं और लोगों (जन साधारण) से देखे नहीं जा सकते, अर्थात् जीवनमुक्त हो जाते हैं; प्रभु के अंश बनकर उन्हीं में लीन हो जाते हैं।

2. उपास्य :

भक्ति का दूसरा अवयव उपास्य है। शिवस्तोत्रावली में उपास्य देव शिव हैं, जो अद्वितीय,[1] सत् एवं असत् से परे[2], सभी पुरुषों के आधार[3] तथा तीन भुवनों के स्वामी हैं।[4] वे जय-जयकार के पात्र, जन्म, जरा, एवं मृत्यु को जीतने वाले हैं।[5] वे परिपूर्ण[6] अद्वैत रस से भरे हुए[7], अलौकिक एवं सर्वव्यापक हैं[8]। वे सभी चीज़ों के आश्रय[9] अर्थात् कल्पवृक्ष–स्वरूप और भक्ति से प्रसन्न[10] होने वाले हैं।

शिवस्तोत्रावली में भगवान् शिव के अनेक नाम प्रचलित हैं।

---

1. "उपहासैकसारेऽस्मिन्नेतावति जगत्त्रये।
तुभ्यमेवाद्वितीयाय नमो नित्यसुखासिने।।" –वही, 2/18
2. "सतोऽवश्यं परमसत्सच्च तस्मात्परं प्रभो!
त्वं चासतस्सतश्चान्यस्तेनासि सदसन्मयः।।"–वही, 3/18
3. "उत्तमः पुरुषोऽन्योऽस्ति युष्मच्छेषविशेषितः।
त्वं महापुरुषस्त्वेको निःशेषपुरुषाश्रयः।।"–वही, 3/14
4. "दासस्य मे प्रसीदतु भगवानेतावदेव ननु याचे।
दाता त्रिभुवननाथो यस्य न तन्मादृशां दृशो विषयः।।"–वही, 19/15
5. "जय जयभाजन जय जितजन्म जरामरण जय जगज्ज्येष्ठ।
जय जय जय जय जय जय जय जय जय जय जय जय जय त्र्यक्ष।।"
–वही, 14/24
6. "भक्तिर्भक्तिः परे भक्तिर्भक्तिर्नाम समुत्कटा।
तारं विरौमि यत्तीव्रा भक्तिर्मेऽस्तु परं त्वयि।।–वही, 16/25
7. "जगद्विलयसञ्जातसुधैकरसनिर्भरे।
त्वदब्धौ त्वां महात्मानमर्चन्नासीय सर्वदा।"–वही, 17/14
8. "सकलव्यवहारगोचरे स्फुटमन्तः स्फुरति त्वयि प्रभो!
उपयान्त्यपयान्ति चानिशम् मम वस्तूनि विभान्तु सर्वदा।।" –वही, 18/7
9. "प्रार्थनाभूमिकातीतविचित्रफलदायकः।
जयत्यपूर्ववृत्तान्तः शिवः सत्कल्पपादपः।।"–वही, 19/1
10. "त्वं भक्त्या प्रीयसे भक्तिः प्रीते त्वयि च नाथ यत्।
तदन्योन्याश्रयं युक्तं यथा वेत्थ त्वमेव तत्।।"–वही, 16/21

उनमें से 'नाथ'[1], 'ईश'[2] 'भगवान्'[3] 'विभु'[4], 'प्रभु'[5], 'शम्भु'[6] एवं 'शिव'[7] अत्यन्त प्रमुख हैं। समस्त जगत् के स्वामी अथवा मालिक होने के कारण उन्हें नाथ कहा जाता है। योगशास्त्र के अनुसार क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से पृथक् होने वाला ईश्वर कहलाता है, अतः इन गुणों के कारण वे ईश अर्थात् ईश्वर हैं। धन-सम्पत्ति या ऐश्वर्य वाला होने के कारण इन्हें 'भगवान् कहते हैं। सर्व-व्यापक, सदा रहने वाला (चिरस्थायी) एवं दृढ़ होने वाला होने के कारण इनका विभु नाम सार्थक है। प्रभु उसे कहते हैं जो अनुग्रह-निग्रह करने में सक्षम हो। अतएव शिव की यह उपाधि भी सिद्ध है।[8] इन्हीं महाप्रभु के शान्ति-दायक होने से तथा सुख-स्वरूप होने से क्रमशः 'शम्भु' एवं 'शिव' नामों की भी सिद्धि होती है।

इन (प्रभु) को उत्पलदेवाचार्य ने हर भी कहा है। हर अर्थात् हरने वाला (अर्थात् भक्तों के हृदयों को हरने वाला)[9] इन्हें अज अर्थात् अजन्मा (जिसका जन्म न हो, स्वयम्भू) भी कहा गया है।[10] निम्न

1. "एषा पेशलिमा नाथ तवैव किल दृश्यते।
विश्वेश्वरोऽपि भृत्यैर्यदर्च्यसे यश्च लभ्यसे।।"-वही, 17/45
2. "ता एव परमर्थ्यन्ते सम्पदः सद्भिरीश याः।
त्वद्भक्तिरससम्भोगविस्रम्भपरिपोषिकाः।।-वही, 1/23
3. "समुल्लसन्तु भगवन् भवद्भानुमरीचयः।
विकसत्वेष यावन्मे हृत्पद्मः पूजनाय ते।।"-वही, 5/8
4. "सर्व एव भवल्लाभहेतुर्भक्तिमतां विभो।
संविन्मार्गोऽयमाह्लाददुःखमोहैस्त्रिधा स्थितः।।"-वही, 1/10
5. "प्रहर्षाद्वाथ शोकाद्वा यदि कुड्याद्घटादपि।
बाह्यादथान्तराद्भावात्प्रकटीभव मे प्रभो!।"-वही, 5/10
6. "पशुजसमानवृत्तामवधूय दशामिमां कदा शम्भो!
आस्वादयेय तावकभक्तोचितमात्मनो रूपम्।।"-वही, 9/17
7. "शिव-शिव शिवेति नामनि तव निरवधि नाथ जप्यमानेऽस्मिन्।
आस्वादयन् भवेयं कमपि महारसमपुनरुक्तम्।।"-वही, 5/23
8. "भवदीयमिहास्तु वस्तु तत्त्वं विवरीतुं क इवात्र पात्रमर्थे।
इदमेव हि नामरूपचेष्टाद्यसमं ते हरते हरोऽसि यस्मात्।।"-वही, 18/14
9. "भवदीयमिहास्तु वस्तु तत्त्वं विवरीतुं क इवात्र पात्रमर्थे।
इदमेव हि नामरूपचेष्टाद्यसमं ते हरते हरोऽसि यस्मात्।।"-वही, 18/14
10. "मोक्षदशायां भक्तिस्त्वयि कुत इव मर्त्यधर्मिणोऽपि न सा।
राजति ततोऽनुरूपामारोपय सिद्धिभूमिकामज माम्।।"-वही, 19/13

उदाहरण में इन्हें स्वामी, सुधानिधि (आनन्द सागर), मृष्ट (चमत्कार स्वरूप प्रभु), त्रिलोचन, स्वादु (मधुर स्वरूप वाले प्रभु) और विरूपाक्ष (डरावनी आँखों वाले) नाम दिये गये हैं। उत्पलदेवाचार्य कहते हैं, "हे ईश्वर! हे आनन्द सागर! हे चमत्कार स्वरूप प्रभु! हे त्रिनेत्रधारी! हे मधुर स्वरूप वाले! हे डरावनी आँखों वाले! इसी प्रकार करुण स्वर में पुकारता हुआ मैं नाचता रहूँ।"[1] इन्हें महेश्वर नाम से पुकारते हुए उत्पलदेव कहते हैं, "जगत् के अद्वितीय स्वामी आपको यह निःसंदेह सहन नहीं करना चाहिए कि हम महेश्वर के भक्त भी हों और अन्य (अज्ञानी) लोगों के समान ही बने रहें।"[2] इसके अतिरिक्त इन्हें गुह्य (रहस्यपूर्ण स्वरूप वाला), पर (सबसे बड़ा अथवा परिपूर्ण), विश्वमहेश्वर (संसार के स्वामी, जगदीश) नामों से भी पुकारा गया है।[3]

इन्हें गिरीश्वर (गिरि राज, सुमेरु पर्वत के स्वामी) एवं उत्पात चन्द्रमा (अशुभ सूचक चन्द्रमा) भी कहा गया है। सुमेरु नामक पर्वतराज स्वर्णमय है; और इसी का स्वामी होने के कारण वे गिरीश्वर कहलाते हैं। प्रभु को उत्पात चन्द्रमा इसलिए कहते हैं क्योंकि वे चन्द्रमा की तरह स्वभाव से ही आनन्द स्वरूप अर्थात् सबको आह्लादित करने वाले तो हैं, परन्तु जब कोई अज्ञान से प्रेरित होकर इनकी निन्दा करने लगता है तो उसके लिए ये अशुभ सूचक अर्थात् विपत्ति का कारण बनते हैं। जैसा कि स्वयं आचार्य उत्पलदेव कहते हैं, "सोने से भरपूर, धातुओं के उत्पत्ति स्थान, गिरिराज सुमेरु पर्वत के स्वामी, आपकी जय हो। पापी लोगों पर निन्दा रूपिणी उल्का गिरने पर उनके लिये उत्पात चन्द्रमा आपकी जय हो।"[4] इनके अतिरिक्त प्रभु को इन्दुलक्ष्मण (चन्द्रमा के

---

1. "अहो सुधानिधे स्वामिन् अहो मृष्ट त्रिलोचन।
अहो स्वादो विरूपाक्षेत्येव नृत्येयमारटन्॥"–वही, 5/4
2. "न सोढव्यमवश्यं ते जगदेकप्रभोरिदम्।
माहेश्वराश्च लोकानामितरेषां समाश्च यत्॥"–वही, 10/1
3. "गुह्ये भक्तिः परे भक्तिर्भक्तिर्विश्वमहेश्वरे।
त्वयि शम्भो शिवे देव भक्तिर्नाम किमप्यहो॥"–वही, 16/24
4. "जय जाम्बूनदोदग्रधातूद्भवगिरीश्वर।
जय पापिषु निन्दोल्कापातनोत्पातचन्द्रमः॥"–वही, 14/20

चिह्न वाले अर्थात् सोम कला-धारी) भी कहा गया है।[1] इस नाम की सार्थकता इस प्रकार से है कि भगवान् शंकर प्रकाश फैला कर अन्धकार को दूर करने में सर्वथा समर्थ हैं। प्रभु का शंकर नाम अत्यन्त प्रचलित है जो पशुओं के समान लोगों के हृदयों में भी अपूर्व चमत्कार प्रस्फुरित करता है।[2]

शिवस्तोत्रावली में भगवान् शंकर के व्यक्तित्व (साकार रूप) का चित्रण बहुत आकर्षक रूप में हुआ है। इनके ललाट पर तीसरा नेत्र[3] है। उत्पलदेवाचार्य उन शिव की स्तुति करते हैं जिनका आतपत्र चन्द्रमा है और गंगा का प्रवाह जिनका चामर है।[4] ये (शिव) जटाओं में गंगा धारण किये हुए हैं और भस्म-प्रिय हैं।[5] चन्द्रमा की सोलह कलायें होती हैं। कृष्ण पक्ष के पन्द्रह दिनों में इसकी पन्द्रह कलाओं का क्षय होता है। इसकी सोलहवीं कला को अमा कला अर्थात् अमावस्या की कला कहते हैं। इसका क्षय कदापि नहीं होता। भगवान् शिव इसी अमा कला को अपने माथे पर धारण करते हैं।[6] भगवान् शिव की दृष्टि अमंगलों का नाश करती है[7], और जो शीतल, निर्मल एवं अनूठी है।[8] भगवान् शिव का गला कालकूट विष की छाप से युक्त है।[9] ये खप्परों को धारण करने

1. "नमो मोहमहाध्वान्तध्वंसनानन्यकर्मणे।
सर्वप्रकाशातिशयप्रकाशायेन्दुलक्ष्मणे।।"–वही, 11/15
2. "यो विचित्ररससेकवर्धिङ्कतः शङ्करेति शतशोऽप्युदीरितः।
शब्द आविशति तिर्यगाशयेष्वप्ययं नवनवप्रयोजनः।।"–वही, 4/13
3. "बलिं यामस्तृतीयाय नेत्रायस्मै तव प्रभो।
अलौकिकस्य कस्यापि माहात्म्यस्यैकलक्ष्मणे।।"–वही, 10/6
4. "सितातपत्रं यस्येन्दुः स्वप्रभापरिपूरितः।
चामरं स्वर्धुनीस्त्रोतः स एकः परमेश्वर।।"–वही, 3/4
5. "जय शोभाशतस्यन्दिलोकोत्तरवपुर्धर।
जयैकजटिकाक्षीणगङ्गाकृत्यात्तभस्मक।।"–वही, 14/5
6. "जयाक्षयैकशीतांशुकलासदृशसंश्रय।
जय गङ्गासदारब्धविश्वैश्वर्याभिषेचन।।"–वही, 14/7
7. "सुखप्रधानसंवेद्यसम्भोगैर्भजते च यत्।
त्वामेव तस्मै घोराय शक्तिवृन्दाय ते नमः।।"–वही, 2/23
8. "प्रकाशां शीतलामेकां शुद्धां शशिकलामिव।
दृशं वितर मे नाथ कामप्यमृतवाहिनीम्।।"–वही, 3/5
9. "जय त्रैलोक्यनाथैकलाञ्छनालिकलोचन।
जय पीतार्तलोकार्तिकालकूटाङ्ककन्धर।।"–वही, 14/3

वाले[1], वासुकि को धारण करने वाले[2] तथा मुण्डमाला एवं शुभ्र वस्त्रों को धारण करने वाले हैं।[3] इन सभी वस्तुओं के अतिरिक्त भगवान् शिव त्रिशूलधारी[4] तथा वृषभ को वाहन रूप में रखने वाले हैं।[5]

इस प्रकार भगवान् शंकर तीनों लोकों के स्वामी, भस्म-लेपन से गोरे रंग वाले, त्रिनेत्रधारी, त्रिशूल को धारण करने वाले, सर्पों को यज्ञोपवीत के रूप में धारण करने वाले तथा चन्द्रकला धारी ऐसे स्वरूप वाले हैं।

इसके अतिरिक्त इन भगवान् शिव को सर्वव्यापक अर्थात् 'प्रभु ही प्रत्येक आत्मा है'[6] ऐसा माना गया है और काल-कलनात्मिका बुद्धि से परे माना गया है।[7] उस परमसत्ता का ऐसा रूप शिवस्तोत्रावली में दर्शित किया गया है।

शिव और शक्ति में तादात्म्य सम्बन्ध है। शक्ति शिव से अलग नहीं है, बल्कि अपनी सर्जनात्मक स्थिति में स्वयं शिव है।[8] शिव की क्रियारूपता को ही शक्ति कहा जाता है। शिव ज्ञान रूप हैं। कश्मीर शैव दर्शन में ज्ञान भी क्रियारूप है। इस दर्शन के अनुसार बिना प्रकाश के विमर्श और बिना विमर्श के प्रकाश नहीं रह सकते। विमर्श प्रकाश से अलग होकर अस्तित्व में नहीं आ सकता और उसी प्रकार प्रकाश भी

---

1. "नमश्चराचराकारपरेतनिचयैः सदा।
क्रीडते तुभ्यमेकस्मै चिन्मयाय कपालिने।।"-वही, 2/11
2. "जय क्षीरोदपर्यस्तज्योत्स्नाच्छायाऽनुलेपन।
जयेश्वरांगसंगोत्थरत्नकान्ताहिमण्डन।।"-वही, 14/6
3. "नौमि निजतनुविनिस्सरदंशुकपरिवेषधवलपरिधानम्।
विलसत्कपालमालाकल्पितनृत्तोत्सवाकल्पम्।।" -वही, 20/2
4. द्रष्टव्य-वही, 11/11
5. "जयधराङ्गसंस्पर्शपावनीकृतगोकुल।
जय भक्तिमदाबद्धगोष्ठीनियतसन्निधे।।" -वही-, 14/8
6. "त्वमेवात्मेश सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान्।
इति स्वभावसिद्धां त्वद्भक्तिं जानञ्जयेज्जनः।।"-वही, 1/7
7. "न तदा न सदा न चैकदेत्यपि सा यत्र न कालधीर्भवेत्।
तदिदं भवदीयदर्शनं न च नित्यं न च कथ्यतेऽन्यथा।।"-वही, 12/5
8. डॉ॰ कैलाश पति मिश्र, "कश्मीर शैव दर्शन (मूल सिद्धान्त)", पृ॰-63

बिना विमर्श के प्रकाश में नहीं कहा जा सकता। प्रकाश और विमर्श के समान शिव और शक्ति मूलतः अविभाज्य हैं। शिव बिना आत्मबोध के शुद्ध प्रकाश हैं। शिव को बिना शक्ति के अपना बोध भी नहीं हो सकता। इस प्रकार शक्ति से अलग होकर शिव जड़ होगा और परिणाम स्वरूप शव होगा। शिव अपने को शक्ति द्वारा जानता है तथा शक्ति भी अपने कार्य-सम्पादन के लिये शिवाश्रित रहती है। दोनों ही मूलरूप से एक-दूसरे पर आश्रित हैं।[1] उपासना में यद्यपि ईश्वर और देवी दो रूप व्यक्त हैं, किन्तु मूलतः दोनों एक ही हैं। उत्पलदेवाचार्य भी शिव-शक्ति के इस रूप की उपासना करते हए कहते हैं, "हे ईश्वर! जिस नगरी में आप देवी सहित सौध (सुधामय हृदय रूपी अन्तःकरण) से लेकर गोपुर (इन्द्रियविषय के प्रवेशमार्ग रूपी मुख्य द्वार तक स्वयं अनन्त रूपों में विद्यमान हैं; मैं उसी नगरी का निवासी बनूँ।"[2] तथा "हे देव! आप अपने उस धाम (स्वरूप) को प्रकट कीजिए, जिसमें आप परमेश्वरी देवी के साथ सदा रहते हैं।"[3] इसके अतिरिक्त उत्पलाचार्य उन शिव की स्तुति करते हैं जो बाहर (इस जगत् में) तथा भीतर (चित्त में) भासमान सभी विषयों में परमेश्वरी देवी से युक्त तथा तीनों लोकों से परिपूर्ण हैं।[4]

भगवान् शिव के इस रूप अर्थात् शिव-शक्ति रूप की उपासना करते हुए भी उत्पलाचार्य इन दोनों को अभिन्न मानते हैं। दोनों में कोई भेद न मानते हुए वे कहते हैं, "हे परमेश्वर! कभी (अर्थात् किसी विश्वोत्तीर्ण दशा में) आप शिव ही (प्रधान होते हैं) और कभी (अर्थात् किसी विश्वमय दशा में) सभी पदार्थों के क्रम से भरी हुई शक्ति भगवती (ही) प्रधान (होती है) अर्थात् आपकी प्रधानता कभी शिव के रूप में देखी जाती है और कभी परा-शक्ति के रूप में देखी जाती है।

---

1. –वही, पृ॰-65
2. "यत्र देवीसमेतस्त्वमासौधादा च गोपुरात्।
   बहुरूपः स्थितस्तस्मिन्वास्तव्यः स्यामहं पुरे।।" –शिवस्तोत्रावली, 5/7
3. "प्रकटय निजधाम देव यस्मिंस्त्वमसि सदा परमेश्वरीसमेतः।
   प्रभुचरणरजःसमानकक्ष्याः किमविश्वासपदं भवन्ति भृत्याः।।" –वही, 12/15
4. "तत्र तत्र विषये बहिर्विभात्यन्तरे च परमेश्वरीयुतम्।
   त्वां जगत्त्रितयनिर्भरं सदा लोकयेय निजपाणिपूजितम्।।" –वही, 13/12

वास्तव में न तो देवी शक्ति और न ही इस त्रिभुवन तथा आप में कोई भेद है।[1]

कश्मीर शैव-दर्शन के अनुसार, समस्त सृष्टि के मूल में एक ही शक्तितत्त्व है और उसके अभिव्यक्त होने के अनेक रूप हैं। सृष्टि, स्थिति और संहार में शिव शक्ति के बिना समर्थ नहीं होते।[2] इसी भाव को स्पष्ट करते हुए उत्पलदेवाचार्य कहते हैं, "उस सर्वशक्तिमान् की जय हो, जो तीनों लोकों को उत्पन्न करने की इच्छा के समय अकेले थे। परन्तु सारे जगत् के स्वामी होने का भार धारण करने में केवल देवी ही जिसकी सहायक थीं, ऐसे भगवान् शिव को प्रणाम हो।"[3] इस प्रकार से शिव-शक्ति रूप का अभिन्नत्व दर्शाते हुए उत्पलदेवाचार्य ने शिव-शक्ति को सृष्टि का मूल कारण माना है। इस गूढ़ दार्शनिक तथ्य का वर्णन इन्होंने अत्यन्त सरल शब्दावली में किया है। शक्ति एवं शिव का अभेद वर्णन करते हुए अभिन्न मानकर उत्पलदेवाचार्य कहते हैं, 'हे ईश्वर! जिस प्रकार असीमित आनन्द से सरल बनी हुई आपकी अत्यन्त प्रिय परा-शक्ति देवी आपके साथ अभिन्न बनी रहती है, उसी प्रकार केवल आपकी भक्ति सर्वदा मेरे साथ बनी रहे।'[4] शिव-शक्ति से सम्बन्धित विचार को आचार्य उत्पल ने इस श्लोक में बहुत सुन्दर रूप दिया है, 'जो महादेव गौरी का प्रिय है, वह सुन्दर क्यों न हो? अर्थात् वह सुन्दर है, अतः वह (अर्थात् हृदयों को जीतने वाला) कैसे गौरी का प्रिय न हो? अर्थात् वह सुन्दर शंकर गौरी का प्रियतम है।'[5] इस प्रकार से यहाँ शिव और शक्ति को क्रमशः प्रियतम और प्रियतमा रूप देकर अभिन्नत्व स्थापित किया गया है।

---

1. "क्वचिदेव भवान् क्वचिद्भवानी सकलार्थक्रमगर्भिणी प्रधाना।
परमार्थपदे तु नैव देव्या भवतो नापि जगत्त्रयस्य भेदः॥" –वही, 18/2
2. डॉ॰ कैलाशपति मिश्र–"कश्मीर शैव दर्शन" (मूल सिद्धान्त), पृ॰-62
3. "जय त्रैलोक्यसर्गेच्छावसरासद्द्वितीयक।
जयैश्वर्यभरोद्वाहदेवीमात्रसहायक॥"–शिवस्तोत्रावली, 14/13
4. "अनन्तानन्दसरसी देवी प्रियतमा यथा।
अवियुक्तास्ति ते तद्वदेका त्वद्भक्तिरस्तु मे॥" –वही, 1/9
5. "कथं स सुभगो मा भूद्यो गौर्या वल्लभो हरः।
हरोऽपि मा भूदथ किं गौर्याः परमवल्लभः॥" –वही, 20/6

उपासना :

भक्ति क्षेत्र में उपासक और उपास्य के सामीप्य का एकमात्र साधन उपासना है। उपासक और उपास्य का निरूपण करते समय इसको कदापि भुलाया नहीं जा सकता। यह परमेश्वर के स्वरूप से तदाकार कराने का सरल उपाय है। अतएव परमात्मतत्त्व का अभेदात्मक भाव से चिन्तन, ध्यान और सान्निध्य से प्राप्त आनन्द ही सर्वोत्तम उपासना अथवा भक्ति है। भक्ति शब्द 'भज्' (सेवायाम्) धातु में क्तिन् प्रत्यय लगाकर बना है। भक्ति का अर्थ है– भगवान् की सेवा करना। शैव-शास्त्रों में भक्तिशाली साधक को दास का नाम दिया गया है क्योंकि दास उसी को कहते हैं जिसको मालिक अपना सर्वस्व देकर ही रहता है। अपने पास कुछ भी नहीं रखता है, 'दीयते सर्वम् अस्मै इति दासः।' इस दास पदवी तक कोई-कोई भक्त ही पहुँचता है, क्योंकि ऐसा दास तो साक्षात् शिवरूप ही होता है।

शिवस्तोत्रावली में प्रकट रूप से लौकिक स्तोत्रों के रूप में समावेशमयी भक्ति और उसकी सफलता से मिलने वाले परमानन्द का सजीव, सुन्दर, मनोमुग्धकारी और प्रभावोत्पादक चित्रण किया गया है। भक्ति अपने उत्कृष्ट रूप में परम प्रेमरूपा[1] है। इसी प्रेममय भक्ति से शिवस्तोत्रावली आप्लावित है। उत्पलदेवाचार्य ने भी समावेशमयी भक्ति को ही सर्वोत्कृष्ट माना है। पूजा, अर्चना, प्रार्थना, परिचर्या, जप आदि उपासना के अंग तो शिवस्तोत्रावली में हैं, परन्तु इन्हें विधिरूप नहीं, अपितु इनका केवल उल्लेखात्मक वर्णन है। इन उपासना के तत्त्वों के उल्लेख मात्र में भी समावेशमयी भक्ति ही झलकती है। पूजा के बारे में उत्पलदेव कहते हैं, 'हे प्रभु! जिसका आदि तथा अन्त नहीं होते और बीच में भी समय का क्रम नहीं होता, वही पूजा की क्रिया है, आपके भक्त ही उस क्रिया को पूर्ण रूप में करने वाले होते हैं।'[2] तथा 'हे प्रभु!

---

1. "सा त्वस्मिन् परम-प्रेमरूपा"–नारद भक्ति सूत्र, 2
2. "यस्यानारम्भपर्यन्तौ न च कालक्रमः प्रभो!
पूजात्मासौ क्रिया तस्याः कर्तारस्त्वज्जुषः परम्।।" –शिवस्तोत्रावली, 17/6

आपकी पूजा-रीति की जय हो, जो तृणों से की जाने पर भी पूर्ण रूप में सफल हो जाती है'।[1]

अर्चना का उल्लेख इस प्रकार से किया गया है, "हे प्रभु! आपकी चिदानन्द की प्राप्ति का एकमात्र कारण आपके चरणों की अर्चना रूपी अमृत-पान का महोत्सव मुझे निरन्तर प्राप्त हो।[2] तथा भक्ति को अर्चना से उत्तम मानकर कहते हैं-'हे प्रभु! उन्मत्त होकर निरंकुश बने हुए नियमों का पालन न करने वाले, भक्त-जनों से की जाने वाली अर्चना असम्बद्ध रूप वाली होते हुए भी आपके स्वरूप में किसी असाधारण प्रतिष्ठा का पात्र बनती है।'[3]

प्रस्तुत कथन से प्रार्थना की ओर संकेत मिलता है, 'हे प्रभु! प्रकट हो जाइये, हम अन्य प्रार्थनाओं से आपको कष्ट नहीं देंगे। हम (आपके वियोग से) दुःखी होकर आपको ही प्राप्त करना चाहते हैं।[4]

परिचर्या का उल्लेख भी उत्पलदेव के इस कथन में द्रष्टव्य है, "हे प्रभो! मैं अपने स्वाभाविक रूप में विषयों का सेवन करने में लगा हुआ भी, चंचलता से रहित होकर सदा आपकी परिचर्या करता रहूँ"[5]। परिचर्या का उल्लेख तो यहाँ मिलता है, परन्तु साथ में ही भगवान् का अनुग्रह ही सर्वोत्तम माना गया है।

जप के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उत्पलदेव कहते हैं, 'हे प्रभु! मुझसे बढ़कर कोई उत्कृष्ट (देवता) नहीं है, फिर भी (मैं) जप

---

1. "जयत्येष भवद्भक्तिभाजां पूजाविधिः परः।
यस्तृणैः क्रियमाणोऽपि रत्नैरेवोपकल्पते।।" –वही, 17/48
2. "सततं त्वत्पदाभ्यर्चासुधापानमहोत्सवः।
त्वत्प्रसादैकसम्प्राप्तिहेतुर्मे नाथ कल्पताम्।।"–वही, 17/18
3. "अप्यसम्बद्धरूपार्चा भक्त्युन्मादनिरर्गलैः।
वितन्यमाना लभते प्रतिष्ठां त्वयि कामपि।।"–वही, 17/41
4. "प्रकटीभव नान्याभिः प्रार्थनाभिः कदर्थनाः।
कुर्मस्ते नाथ ताम्यन्तस्त्वामेव मृगयामहे।।"–वही, 6/11
5. "मनसि स्वरसेन यत्र तत्र प्रचरत्यप्यहमस्य गोचरेषु।
प्रसृतोऽप्यविलोल एव युष्मत्परिचर्याचतुरः सदा भवेयम्।।" –वही, 12/25

करता हूँ, इसलिए साक्षात्कार करना ही तत्त्व-दृष्टि से जप है, 'यही आप कहीं रुद्राक्ष-माला धारण करने से उपदेश करते हैं'।[1] इस प्रकार यहाँ जप को प्रभु के साथ एकीकरण के अन्तर्गत ही माना गया है।

शिवस्तोत्रावली में समावेशमयी भक्ति को सर्वोत्कृष्ट माना गया है। उत्पलदेवाचार्य ने शिवस्तोत्रावली के मंगलाचरण में उस भक्ति-शोभित व्यक्ति को प्रणाम किया है, जिसको बिना ध्यान के, बिना जप के, विधि रहित रूप में, ऐसे ही अर्थात् ईश्वर के अनुग्रह से ही भगवान् शिव का आभास हो।[2] इस प्रकार उत्पलदेवाचार्य ने यहाँ उपासना के अन्य साधनों अर्थात् ध्यान, जप आदि की तुलना में प्रभु के अनुग्रह को ही उत्कृष्ट माना है। जैसाकि पहले बताया गया कश्मीर–शैवदर्शन में उस परमसत्ता तक पहुँचने के लिए तीन मार्गों को निर्धारित किया गया है जो इस प्रकार से हैं–आणवोपाय, शाक्तोपाय एवं शाम्भवोपाय। परन्तु इन सबसे बढ़कर; परमात्मा के अनुग्रह को अर्थात् अनुपाय को माना गया है। जहाँ भगवान् का अनुग्रह जीव पर हो, वहाँ किसी उपाय की आवश्यकता नहीं रहती। अत: जिस जीव पर प्रभु-अनुग्रह होता है, वह सीधे ही उस परमतत्त्व का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। वह आत्म–साक्षात्कार की उस चरमसीमा को प्राप्त करता है, जहाँ वह स्वयं शिव ही होता है। इस प्रकार के प्रभु-अनुग्रह को सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

इस भक्ति को ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट अवस्था और योग की परम दशा माना गया है। जैसा कि उत्पलदेवाचार्य स्वयं कहते हैं, "हे ईश्वर! जो आपकी भक्ति (स्वरूप समावेशरूपिणी) ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट अवस्था और योग की पराकाष्ठा है, उसके लिए मेरी प्रार्थना कब पूर्ण होगी? अर्थात् मुझे वह भक्ति कब प्राप्त होगी।"[3] और 'हे स्वामी! इस संसार

---

1. "मत्परं नास्ति तत्रापि जापकोऽस्मि तदैक्यत:।
तत्त्वेन जप इत्यक्षमालया दिशसि क्वचित्।।"–वही, 3/17
2. "न ध्यायतो न जपत: स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्।।" –शिवस्तोत्रावली, 1/1
3. "ज्ञानस्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा।
त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि पूर्णा मे स्यात्तदर्थिता।।" –वही, 9/9

में केवल आपके स्वामित्व के आस्वादन से उत्पन्न हुआ, अलौकिक आनन्द रस सदैव (अर्थात् व्युत्थान में भी) मेरे हृदय में विकसित होता रहे, ज्ञान और योग की महिमा आदि दूर ही रहे, अर्थात् उनसे मुझे कोई प्रयोजन नहीं।"[1] इस प्रकार से इस चरम-भक्ति अर्थात् समावेशमयी भक्ति को ध्यान, जप, ज्ञान, महिमा आदि से सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

(i) समावेशमयी भक्ति– जब मानव अपनी सीमाओं को लेकर सचेत होता है तो इच्छाएँ उसे स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने को प्रवृत्त करती हैं। यही प्रवृत्ति उत्पलदेवाचार्य की 'भक्ति' है। यही मोक्ष-प्राप्ति का उत्तम साधन है। आचार्य उत्पलदेव के अनुसार भक्ति की समाप्ति अथवा सिद्धि ही मोक्ष है–"हे प्रभो! परिपक्व अवस्था को पहुँची हुई आपकी भक्ति का ही नाम मुक्ति है। हम तो उस भक्ति की पहली दशा में पहुँच गये हैं। इसलिए मानो मुक्त ही हो गए हैं, अर्थात् हमें शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त होगा।[2] शिवस्तोत्रावली में समावेशमयी भक्ति को सर्वोत्तम माना गया है। "जिस अवस्था में जीव अपनी परतन्त्र सत्ता का पारतन्त्र्य दबा लेता है और अपने में शिवरूपता को समाविष्ट कर लेता है, अर्थात् अपने भीतर तद्रूप शिवात्मकता को ले आता है, उस अवस्था को समावेश कहते हैं।[3] यह समावेश तीव्र इच्छाशक्ति के निर्विकल्प प्रयोग से भी होता है और सुदृढ़ कल्पनामय भावना के सविकल्प प्रयोग से भी। इस प्रकार जीवभाव के भीतर ही अपने स्वाभाविक शिवभाव की साक्षात् अनुभूति को समावेश कहते हैं। "समावेश की अवस्था में परतन्त्र

---

1. "त्वत्प्रभुत्वपरिचर्वणजन्मा कोऽप्युदेतु परितोषरसोऽन्त:।
सर्वकालमिह मे परमस्तु ज्ञानयोगमहिमादि विदूरे।।" –शिवस्तोत्रावली, 8/2
2. "मुक्तिसंज्ञा विपक्वाया भक्तेरेव त्वयि प्रभो।
तस्यामाद्यदशारूढा मुक्तकल्पा वयं तत:।।" –वही, 16/19
3. "मुख्यत्वं कर्तृतायाश्च बोधस्य च चिदात्मन:।
शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत् समावेशलक्षणम्।।" –ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, 3/2/12
"यत् पुन: कर्तृताया मुख्यत्वं, तत्रान्तरीयकश्च शून्यादेर्गुणाभाव:
यच्च तत् कर्तृताया मुख्यत्वम्–उन्मग्नता, इदमेव ज्ञानमज्ञानात्मकमलप्रतिपक्षत्वात्। तदेतन्मुख्यत्वं समावेशस्य लक्षणम्। येन देहस्थितैतद्रूपपति: इति मुक्त इति शास्त्रेषूक्त:।"
–ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 2/2/12

जीवभाव; स्वतन्त्र शिवभाव के भीतर निमग्न हो जाता है और जीव को अपने आप में साक्षात् शिव ही भासता है।[1] उत्पलदेवाचार्य भी कहते हैं कि "हे अमरेश! आप निरन्तर पूजे जाते हुए भी महापुरुषों अर्थात् भक्तजनों के लिये केवल पूजक के रूप में ही प्रकाशित होते हैं और इस जगत् में भीतर तथा बाहर से दिखाई देते हुए भी सदैव द्रष्टा अर्थात् देखने वाले के रूप में ही प्रकट होते हैं।"[2]

समावेशमयी भक्ति जीव को ईश्वर के समीप अधिक शीघ्रता से पहुँचा सकती है। आचार्य उत्पलदेव उस अलौकिक स्वरूप वाले भगवान् शंकर को प्रणाम करते हैं जो मुनियों से भी अविज्ञेय हैं, परन्तु जिस प्रभु का समावेश रूपिणी भक्ति के सम्बन्ध में व्यवहार करने वाले भक्तजन आलिंगन भी करते हैं।[3] इसके अतिरिक्त "प्रभु के साथ जिस जीव के हृदय का मेल हुआ हो, केवल वह एक ही प्रभु की विभूतियों का पात्र होता है।[4] इसलिए उत्पलदेव भी भगवान् शिव से प्रार्थना करते हैं कि "तुम्हारे चरण-कमलों के केवल स्पर्श रूपी आस्वाद में आसक्त बने हुए मुझे हठ शक्तिपात् के क्रम से अपने चित् रूपी घर में प्रवेश कराइये।"[5] तथा "आप के स्वरूप में समाविष्ट होने से मैं प्रत्येक वस्तु को आपका ही स्वरूप समझता हूँ और आकांक्षाओं से रहित तथा परमानन्द रूपी हर्ष से पूर्ण होकर विहार करता रहूँ।"[6] उत्पलदेवाचार्य भगवान् में समावेश पाने के लिए उत्सुक होकर कहते हैं; "नित नये

---

1. "आवेशश्चास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनात्।
   परतद्रूपता शम्भोराद्याच्छक्त्याविभागिनः॥"–तन्त्रालोक 1/173
2. "महताममरेश पूज्यमानोऽप्यनिशं तिष्ठसि पूजकैकरूपः।
   बहिरन्तरपीह दृश्यमानः स्फुरसि द्रष्टृशरीर एव शश्वत्॥" –वही, 4/25
3. "मुनीनामप्यविज्ञेयं भक्तिसम्बन्धचेष्टिताः।
   आलिंगन्त्यपि यं तस्मै कस्मै चिद्भवते नमः॥"–वही 2/24
4. "प्रभुणा भवता यस्य जातं हृदयमेलनम्।
   प्राभवीणां विभूतीनां परमेकः स भाजनम्॥"–वही 3/8
5. "त्वत्पादपद्मसम्पर्कमात्रसम्भोगसंगिनम्।
   गलेपादिकया नाथ मां स्ववेश्म प्रवेशय॥"–वही, 5/1
6. "भवदावेशतः पश्यन् भावं भावं भवत्मयम्।
   विचरेयं निराकांक्षः प्रहर्षपरिपूरितः॥" –वही, 6/5

भक्ति रस से अत्यन्त स्पृहणीय (कोमल) समावेश रूपी सम्भोग का चमत्कार करने के लिये उत्सुक बना हुआ मेरा मन और सब कुछ (कल्पनाओं, आदि को) छोड़कर आपका स्पर्श करने में भला कब लग जाये? अर्थात् कब आपके समावेश का अनुभव करेगा?"[1] उत्पलदेवाचार्य भगवत्प्राप्ति मार्ग की तीन दशाओं अर्थात् ध्यान, दर्शन एवं स्पर्श की चरम दशा अर्थात् स्पर्शदशा को प्राप्त करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त उत्पलदेवाचार्य मानते हैं कि समावेशमयी भक्ति के द्वारा शिव एवं जीव का एकात्मसम्बन्ध होता है। वे कहते हैं "आपकी समावेश रूपिणी-भक्ति का संयोग प्राप्त होने पर आपके साथ एकात्मता अवश्य होती है, जैसे दूध का बड़ा घड़ा प्राप्त होने पर दही की इच्छा नहीं रहती।"[2] इन्द्रियाँ अर्थात् पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पञ्च कर्मेन्द्रियाँ स्वभाव से ही चंचल होती हैं, उत्पलदेवाचार्य इस तथ्य को मानते हैं, परन्तु साथ में ही वे यह भी मानते हैं कि मन सहित इन्द्रियों का व्यवहार स्वभाव से ही चंचल होता है। किन्तु आपके भक्त-जन जब समावेश के आनन्द को प्राप्त करते हैं तो उनके लिए वहीं इन्द्रियों का व्यवहार आपके समान ही अचंचल और ज्ञानस्वरूप बन जाता है। ऐसा कैसे होता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है।[3] उत्पलदेवाचार्य समावेशमयी-भक्ति को सर्वोत्तम मानकर कहते हैं कि 'स्वरूप-समावेशमयी- भक्ति-रूपिणी लक्ष्मी के अतिरिक्त सम्पन्न भक्तों के लिए और क्या माँगने योग्य है? अर्थात् उन्हें और किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती और जो इस भक्ति-रूपिणी सम्पत्ति से रहित हों, उनके लिए ऐसी भक्ति के सिवा और क्या माँगने योग्य है? अर्थात् वे इसी को चाहते हैं।[4] समावेशमयी भक्ति रूपी साध्य हेतु साधन है, प्रभु

1. "कदा नवरसार्द्रार्द्रसम्भोगास्वादनोत्सुकम्।
प्रवर्तेत विहायान्यन् मम त्वत्स्पर्शने मन:।।"–वही–,9/1
2. "भवद्भाव: पुरो भावी प्राप्ते त्वद्भक्तिसम्भवे।
लब्धे दुग्धमहाकुम्भे हता दधनि गृध्नुता।।" –वही, 15/12
3. "आमनोऽक्षवलयस्य वृत्तय: सर्वत: शिथिलवृत्तयोऽपि ता:।
त्वामवाप्य दृढदीर्घसंविदो नाथ भक्तिधनसोष्मणां कथम्।।" –वही 18/17
4. "भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदुपयाचितम्।।"–वही, 20/11

का अनुग्रह। इस साधनरूपा या अनुग्रहरूपा भक्ति की चर्चा शिवस्तोत्रावली में इस रूप में की गई है :–

(ii) **अनुग्रहरूपा भक्ति** – भक्ति को तो यहाँ पर्याप्त प्रधानता मिल गई है। परन्तु कश्मीर-शैव-दर्शन के अन्य दार्शनिकों के मत[1] की तरह यहाँ भी यह माना गया है कि इस भक्ति की चाबी शिव ही के हाथ में रहती है। वे जिसे चाहते हैं उसे और जितना चाहते हैं उतनी, भक्ति दे देते हैं। इसे अनुग्रह कहते हैं। अनुग्रह अर्थात् प्राणियों को स्वरूप-साक्षात्कार के प्रति परमेश्वर द्वारा की जाने वाली अन्तः प्रेरणा की लीला। आचार्य उत्पलदेव अपने ऊपर भी यही अनुग्रह चाहते हैं; इसलिए भगवान् शिव से प्रार्थना करते हैं, 'हे महादेव! आपके मन, वचन और कर्म में पूर्ण साम्य है, इसलिए आप मुझ सच्चे भक्त पर अनुग्रह अथवा निग्रह कीजिए।"[2] तथा "हे स्वामी! सभी भुवनों का ग्रास करने से सदैव परमानन्द-घन बने हुए आप हम सेवकों के लिए आनन्द व्याप्तिमय अनुग्रहपूर्ण दृष्टि डालिये अर्थात् हम पर अनुग्रह कीजिये।"[3] भगवान् शिव के अलौकिक एवं सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त करने के लिए उत्पलदेव, परमात्मा से कहते हैं, "ईश्वर के पास ठहरा हुआ जो थोड़ा सा अनुग्रह है और मेरे पास जो थोड़ी सी भक्ति है वे दोनों एक दूसरे के साथ सम्मिलित होकर, कब सत्-चित्-आनन्द रूप को प्राप्त करायेंगी अर्थात् ऐसा समय कब आएगा जब मैं भक्ति करता रहूंगा और आप अनुग्रह करते रहेंगे।"[4]

आगे उत्पलदेव के कथनानुसार लगता है कि वे भगवान् के अनुग्रह–पात्र बने हैं, और वे भविष्य के लिए भी परमशिव के अनुग्रह

---

1. "तस्यैव हि प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्।
यया यान्ति परां सिद्धिं तद्भावगतमानसा।।" –मालिनीविजयवार्तिक, 1/697
2. "हृदि ते न तु विद्यतेऽन्यदन्यद्वचने कर्मणि चान्यदेव शम्भो।
परमार्थसतोऽप्यनुग्रहो वा यदि वा निग्रह एक एव कार्यः।।" शिवस्तोत्रावली, 11/7
3. "अशेषभुवनाहारनित्यतृप्तः सुखासनम्।
स्वामिन् गृहाण दासेषु प्रसादालोकनक्षणम्।।"–वही, 5/14
4. "यः प्रसादलव ईश्वरस्थितो या च भक्तिरिव मामुपेयुषी।
तौ परस्परसमन्वितौ कदा तादृशे वपुषि रूढिमेष्यतः।।" –वही, 8/1

का पात्र बनना चाहते हैं। "हे परमेश्वर! आप अपनी इच्छा से अर्थात् अनुग्रह शक्ति से ही मुझे अपने दास की पदवी पर ला चुके हैं, तो भी किस कारण से मैं आपके चरण दबाने के योग्य नहीं हूँ।"[1] तथा "हे प्रभु! मैं अपनी इच्छा से ही आपके प्रासाद पर बिना रोक-टोक के चढ़कर, आपके अनुग्रह से समावेश में साक्षात्कार रूपी अत्युत्कृष्ट अमृत-मधु का पान करने की क्रीड़ा से सदा आनन्द-पूर्ण बना रहूँ।"[2]

शिवस्तोत्रावली में समावेशमयी भक्ति एवं अनुग्रह-भक्ति के साथ-साथ मधुरा-भक्ति, दास्य-भक्ति और अद्वैतरूपा भक्ति भी दर्शित होती है। पहले मधुरा-भक्ति के कुछ उदाहरण देखें-

(iii) मधुरा भक्ति - आचार्य उत्पलदेव कहते हैं, "हे अमरेश्वर! मैं आपके चरणों के स्पर्श रूपी अमृत-रस के बिना, प्राप्त किए गए तीनों लोकों के उस सम्पूर्ण स्वामित्व को भी रसहीन अर्थात् तुच्छ समझता हूँ।"[3] आगे भक्ति को सीधे 'भक्ति-रस' कहा गया है-'हे भगवान् वाणी, मन और बुद्धि इन्द्रियों द्वारा की गई शारीरिक चेष्टाओं तथा सभी अवस्थाओं में आपकी भक्ति का रस सदा मेरा साथी बना रहे।"[4] आगे ईश्वर के संगम एवं स्पर्श को भी 'अमृत' जैसा मधुर कहा गया है। उत्पलाचार्य कहते हैं कि-"हे ईश्वर! किसी समय होने वाले जरा से आपके संगम रूपी अमृत की बूंदों के छिड़काव से समस्त सांसारिक सुखों से विमुख बना हुआ मैं कहीं दोनों (अर्थात् परमार्थ तथा लौकिक सुख) से वञ्चित न हो जाऊँगा। अर्थात् मुझ पर सर्वदा आपके संगम रूपी अमृत वर्षा होनी चाहिए।"[5] तथा 'हे ईश्वर! आनन्द के

---

1. "दासधाम्नि विनियोजितऽप्यहं स्वेच्छयैव परमेश्वर त्वया।
दर्शनेन न किमस्मि पात्रितः पादसंवहनकर्मणापि वा।।"-शिवस्तोत्रावली,13/10
2. "स्वामिसौधमभिसन्धिमात्रतो निर्विबन्धमधिरुह्य सर्वदा।
स्यां प्रसादपरमामृतासवापानकेलिपरिलब्धनिर्वृतिः।।"-वही, 13/13
3. "अप्युपार्जितमहं त्रिषुलोकेष्वाधिपत्यममरेश्वर मन्ये।
नीरसं तदखिलं भवदङ्घ्रिस्पर्शनामृतरसेन विहीनम्।।" -वही, 4/23
4. "वाचि मनोमतिषु तथा शरीरचेष्टासु करणरचितासु।
सर्वत्र सर्वदा मे पुरःसरो भवतु भक्तिरसः।।"-वही, 5/22
5. "अपि कदाचन तावकसंगमामृतकणाच्छुरणेन तनीयसा।
सकललोकसुखेषु पराङ्मुखो न भवितास्म्युभयच्युत एव किम्।।" -वही, 8/9

आँसुओं की धारा से रुकी हुई परिभ्रान्त और अस्पष्ट पुकार वाला तथा परमानन्द रूपी अट्टहास से खिले हुए मुख वाला मैं भला कब आपके स्पर्श–अमृत के रस की समाधि तथा व्युत्थान दोनों अवस्थाओं को प्राप्त करूँगा।"[1] इसी मधुरा भक्ति के अन्तर्गत कहीं-कहीं सूफियों का प्रभाव भी लक्षित होता है जैसे–उत्पलाचार्य कहते हैं–'हे ईश्वर! मेरी यही लालसा है कि छलकते हुए समस्त पदार्थों रूपी प्यालों में, इन्द्रियों रूपी मुखों से आपकी पूजा के रसायन रूपी मदिरा को लगातार और पूर्ण रूप में पीते हुए मैं उन्मत्त (आनन्द-मग्न) बना रहूँ।"[2] तथा 'हे प्रभु! जो भक्त आपकी भक्ति-रूपी अमृत को पीकर मत्त बने रहते हैं, वे जीतने पर भी हँसते हैं और जीते जाने पर भी हँसते हैं, ऐसे भक्त तो अलौकिक होते हैं।'[3] अर्थात् यहाँ उत्पलाचार्य उन भक्तों की प्रशंसा करते हैं जो भक्ति-अमृत पीकर मत्त बने हँसते रहते हैं, चाहे उन्हें समावेश का आनन्द प्राप्त हो अथवा वे व्युत्थान में भी उस आनन्द से वंचित हों। इसके अतिरिक्त उत्पलाचार्य कहते हैं कि 'समावेशमयी भक्ति के रस रूपी मधु के सेचन से मानो आनन्दित बने हुए पाश-समूहों के कारण, चमकते हुए इन्द्रिय रूपी वेतालों के समूहों से उत्साहित होकर वीर-प्राणी, जिन्होंने संसाररूपी महान् पशु को मार डाला हो, माया-रूपिणी रात में ही चित्-विकास से नाच उठते हैं।[4]

(iv) दास्य भक्ति – दास्य भक्ति भी शिवस्तोत्रावली में स्पष्ट दिखाई देती है। उत्पलाचार्य अपने आप को दास एवं भगवान् को 'स्वामी' नाम से सम्बोधित करते हुए कहते हैं–'हे भगवान्! जब तक मैं तुम्हारा, सदैव सेवा में तत्पर सेवक शीघ्र ही बन जाऊँ, तब तक अपना उत्तम मार्ग प्रकट करें और सभी लोक-व्यवहारों को पूर्ण रूप में

---

1. "आनन्दबाष्पपूरस्खलितपरिभ्रान्तगद्गदाक्रन्दः।
हासोल्लासितवदनस्त्वत्स्पर्शरसं कदाप्स्यामि।।" –वही, 9/16
2. "तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं युष्मदर्चनरसायनासवम्।
सर्वभावचषकेषु पूरितेष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः।।"–वही, 13/8
3. "जयन्तोऽपि हसन्त्येते जिता अपि हसन्ति च।
भवद्भक्तिसुधापानमत्ताः केऽप्येव ये प्रभो!।।"–वही, 16/3
4. "तावकभक्तिरसासवसेकादिव सुखितमर्ममण्डलस्फुरितैः।
नृत्यति वीरजनो निशि वेतालकुलैः कृतोत्साहः।।" –वही, 20/20

आच्छादित करें।"[1] 'हे स्वामी! यह स्वभाव की कोमलता आप में ही सचमुच देखी जाती है, क्योंकि आप समस्त संसार के स्वामी होते हुए भी मुझ जैसे सामान्य सेवकों से पूजे जाते हैं और प्राप्त किये जाते हैं।'[2] तथा 'हे स्वामी! मैं इतनी ही प्रार्थना करता हूँ कि प्रभु मुझ दास पर प्रसन्न रहें, जिस फल का दाता स्वयं आप प्रभु हैं, वह मोक्षात्मक फल मुझ जैसे लोगों की बुद्धि का विषय नहीं है।'[3]

(v) **अद्वैतरूपा भक्ति** – भक्ति का प्रारम्भ तो द्वैत की भावना से होता है, परन्तु इसकी परिणति परमात्मा में समावेश अथवा पूर्ण मिलने से होती है, जहाँ द्वैत का कोई आभास न रहकर, अद्वैत की दशा होती है। भक्ति एक सीढ़ी है, जो परमात्मा के साथ तादात्म्य होने तक ही प्रयुक्त होती है। इस प्रकार से अन्त में उपास्य और उपासक में अद्वैत सम्बन्ध स्थापित होता है। उत्पलदेवाचार्य कहते हैं, 'हे प्रभु! आप द्वैत पर आश्रित भक्ति को नष्ट करते हैं और अद्वैत-भक्ति अर्थात् अद्वैत को ही आधार समझने वाले भक्त को अपने निर्मल तथा अमृत से भरे हुए स्वरूप का चमत्कार अथवा साक्षात्कार कराते हैं।'[4]

अत: शिवस्तोत्रावली में अद्वैत नामक चरमसीमा पर पहुँचने वाली भक्ति को ही अपरिहार्य माना गया है, जहाँ द्वैत समाप्त होता है और जीव और शिव का एकाकार होता है। यहाँ 'शिव' में भक्ति रखने वाले भक्त को 'शिवोऽहम्' यह प्रत्यभिज्ञान हो जाने पर ही शिव-साक्षात्कार की स्थिति प्रत्यक्ष होती है। इसी भाव को पुष्ट करते हुए उत्पलाचार्य कहते हैं, 'हे प्रभु! आपकी समावेशमयी भक्ति अमृत-रस-रूपी उत्तम आसव को पीकर जो भक्त-जन मतवाले होते हैं, वे आप अनुपम के

---

1. "प्रकटय निजमध्वानं स्थगयतरामखिललोकचरितानि।
यावद्भवामि भगवंस्तव सपदि सदोदितो दास:।।"–वही, 4/3
2. "एषा पेशलिमा नाथ तवैव किल दृश्यते।
विश्वेश्वरोऽपि भृत्यैर्यदर्च्यसे यश्च लभ्यसे।।"–वही, 17/45
3. "दासस्य मे प्रसीदतु भगवानेतावदेव ननु याचे।
दाता त्रिभुवननाथो यस्य न तन्मादृशां दृशो विषय:।।" –वही, 19/15
4. "तवेश भक्तेरर्चायां दैन्यांशं द्वयसंश्रयम्।
विलुप्यास्वादयन्त्येके वपुरच्छं सुधामयम्।।" –वही, 16/13

समान स्वरूप वाले होते हैं अर्थात् आपसे अद्वैत सम्बन्ध स्थापित करते हैं, ऐसे भक्त जनों की जय हो।"[1]

यहाँ भक्ति को इतना महत्त्व मिला है कि उत्पलदेवाचार्य भक्ति को ही मुक्ति मानते हैं। वे कहते हैं, "हे ईश्वर! परिपक्व अवस्था (पूर्णता) को पहुँची हुई आपकी भक्ति का ही नाम मुक्ति है। हम तो उस भक्ति की पहली दशा में पहुँच गये हैं, इसलिए मानो मुक्त ही हो गए हैं। अर्थात् हमें शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त होगा।"[2] इसके अतिरिक्त जहाँ अलौकिक महादेव की भक्ति–पूर्ण अर्चना की जाती है, वहाँ कैसी शोभा, कैसा आनन्द तथा कैसी उत्कृष्ट सुख-सम्पत्ति नहीं होती और मोक्ष नहीं होता अर्थात् उसी दशा में परम-अद्वय-रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।[3]

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर कह सकते हैं कि शिवस्तोत्रावली में समावेशमयी-भक्ति अर्थात् प्रभु-अनुग्रह से प्राप्त भक्ति सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। उत्पलदेवाचार्य स्वयं प्रभु अनुग्रह द्वारा इस परम–दशा तक पहुँचने के लिए प्रभु से प्रार्थना करते हैं–

मोक्षदशायां भक्तिस्त्वयि कुत इव मर्त्यधर्मिणोऽपि न सा।
राजति ततोऽनुरूपामारोपय सिद्धिभूमिकामज माम्।।"19/13

भक्ति का वैशिष्ट्य

शिवस्तोत्रावली के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आचार्य उत्पलदेव पूर्ण सिद्ध तथा शैव-शास्त्र के मूल तत्त्वों के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक (अर्थात् अनुभव सिद्ध) दोनों पक्षों के पूर्ण ज्ञाता थे। निम्नलिखित उदाहरणों से पता चलता है कि उत्पलदेवाचार्य का मनोरथ यह था कि वे भगवान् शिव के भक्त होना चाहते हैं। उत्पलाचार्य कहते

---

1. "जयन्ति भक्तिपीयूषरसासववरोन्मदाः।
अद्वितीया अपि सदा त्वद्द्वितीया अपि प्रभो!।" –वही, 1/5
2. "मुक्तिसंज्ञा विपक्वाया भक्तेरेव त्वयि प्रभो।
तस्यामाद्यदशारूढा मुक्तकल्पा वयं ततः।।"–वही 16/19
3. "का न शोभा न को ह्लादः का समृद्धिर्न वापरा।
को वा न मोक्षः कोऽप्येष महादेवो यदर्च्यते।।"–वही 17/25

हैं, 'हे भगवान्! मुझसे आप की भक्ति-रूपिणी औषधि का मज़ा क्यों न चखा जाय, जिसके सेवन करने से मोक्ष नामक रस भी प्राप्त होता है।"[1] उत्पलाचार्य ईश्वर का अनुग्रह भी चाहते हैं। वे कहते हैं, "हे ईश्वर! आपके पास ठहरा हुआ जो थोड़ा सा अनुग्रह है और जो थोड़ी सी भक्ति मेरे पास आई है, वे दोनों सम्मिलित होकर अलौकिक स्वरूप में कब विकास को प्राप्त करें अर्थात् ऐसा समय कब होगा जब मैं भक्ति करता रहूँगा और आप अनुग्रह करते रहेंगे।"[2] उत्पलाचार्य भक्ति एवं अनुग्रह के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहते हैं। वे कहते हैं, "हे ईश्वर! मैं न तो विरक्त, न ही ऐश्वर्यशाली और न ही मुक्ति चाहने वाला आपका पूजक बनूँ, बल्कि मैं आपकी भक्ति-रूपिणी मदिरा के रस से मतवाला बना रहूँ अर्थात् आपके अनुग्रह का पात्र बना रहूँ।[3] उत्पलाचार्य कहते हैं, 'हे स्वामी! मैंने कभी विषय-सुख की चेष्टा नहीं की है, केवल आपके स्वरूप का साक्षात्कार रूपी अमृत मुझे प्रिय है, अतः वही मुझे दीजिए।"[4] इसके अतिरिक्त निम्न श्लोकों में उत्पलाचार्य की प्रभु-रूप में समाविष्ट होने की उत्कट अभिलाषा दर्शनीय है। वे कहते हैं, 'हे स्वामी! तुम्हारे चरण-कमलों की धूलि के पुञ्ज से रंगे हुए केश वाला और फलस्वरूप असीम हर्ष से आरम्भ किए नृत्य वाला भला कब बनूँ।[5] और 'हे स्वामी! आपकी भक्ति जो ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट अवस्था और योग की पराकाष्ठा है, उसके लिए मेरी प्रार्थना कब पूर्ण होगी!"[6] तथा 'हे विभो! मेरा मन रूपी मानसरोवर जब आपकी भक्ति-रूपी अमृत की धाराओं से

---

1. "मादृशैः किं न चर्व्येत भवद्भक्तिमहौषधिः।
   तादृशी भगवन्यस्या मोक्षाख्योऽनन्तरो रसः॥" –वही, 1/22
2. "यः प्रसादलव ईश्वरस्थितो या च भक्तिरिव मामुपेयुषी।
   तौ परस्परसमन्वितौ कदा तादृशे वपुषि रूढिमेष्यतः॥" –वही, 8/1
3. "न विरक्तो न चापीशो मोक्षाकांक्षी त्वदर्चकः।
   भवेयमपि तूद्रिक्तभक्त्यासवरसोन्मदः॥" –वही, 15/4
4. "स्मरसि नाथ कदाचिदपीहितं विषयसौख्यमथापि मयार्थितम्।
   सततमेव भवद्वपुरीक्षणामृतमभीष्टमलं मम देहि तत्॥"–वही, 4/20
5. "भवत्पादाम्बुजरजोराजिरञ्जितमूर्धजः।
   अपाररभसारब्धनर्तनः स्यामहं कदा॥"–वही, 5/2
6. "ज्ञानस्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा।
   त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि पूर्णा मे स्यात्तदर्थिता॥"–वही, 9/9

तुरन्त भर जाय, तब ये सभी कुछ तुच्छ विकल्पमय वासना रूपी पक्षी एकदम उड़ जायें।"[1]

आगे उत्पलाचार्य के इस कथन "जो यह आप मेरे बहुत ही प्रिय स्वामी हो पायें, मेरे मनोरथ पूरे हो गये। इसलिए मैं उल्लास से गरजता हूं तथा सौभाग्य से नाचता हूँ।"[2] से पता चलता है कि उनका मनोरथ पूरा हो गया है। इसी प्रसंग में आगे कुछ और उदाहरण देखें। उत्पलाचार्य कहते हैं, "हे प्रभु! परमानन्द से सनी हुई जो आपकी प्रभा कभी (अर्थात् किसी समाधि-काल में) मुझे बिजली की भाँति (क्षण-मात्र के लिए) प्रकाशित होती है, वह यदि और अधिक स्थिर बन जाती, तो फिर इससे बढ़कर मेरे लिए भला क्या वांछनीय है"[3] तथा 'हे परमेश्वर! सचमुच ज्यों ही मैंने आपकी इच्छा से आपके कल्याणमय मार्ग पर पदार्पण किया त्यों ही मेरे सैंकड़ों प्रकार के कल्याण का उदय हुआ, इसलिए हे प्रभु! मैं आपसे और क्या माँगूं?"[4] प्रभु में समावेश पाने के अनन्तर भी वे यह नहीं भूलना चाहते हैं कि वे प्रभु के अंश हैं। वे कहते हैं, 'हे भगवान्! शरीर, वाणी और मन से जहाँ कहीं भी मैं विचरता हूँ, वह सब कुछ आपका ही स्वरूप है' यह बात सत्य होते हुए भी मेरी दशा में सदा सिद्ध होती रहे।"[5]

उत्पलाचार्य प्रभु-भक्ति में इतने खोये हैं कि वे तिनकों को भी पूजते हैं। वे कहते हैं, 'हे स्वामी! भीतरी भक्ति के चमत्कार का आस्वाद लेने से बन्द की हुई आँखों वाला मैं 'मुझ शिव को नमस्कार करो' ऐसा

---

1. "त्वद्भक्तिसुधासारैर्मानसमापूर्यतां ममाशु विभो!
यावदिमा उड्डन्तां नि:शेषासारवासना: प्लुत्वा।।"–वही, 19/12
2. "गर्जामि बत नृत्यामि पूर्णा मम मनोरथा:।
स्वामी ममैष घटितो यत्त्वमत्यन्तरोचन:।।"–वही, 3/11
3. "नाथ विद्युदिव भाति विभा ते या कदाचन ममामृतदिग्धा।
सा यदि स्थिरतरैव भवेत्तत् पूजितोऽसि विधिवत्किमुतान्यत्।।" –वही, 4/8
4. "किलयदैव शिवाध्वनि तावके कृतपदोऽस्मि महेश तवेच्छया।
शुभशतान्युदितानि तदैव मे किमपरं मृगये भवत: प्रभो!।" –वही, 4/21
5. "कायवाङ्मनसैर्यत्र यामि सर्वं त्वमेव तत्।
इत्येष परमार्थोऽपि परिपूर्णोऽस्तु मे सदा।।" –वही, 6/3

कहते हुए तिनकों की भी पूजा करता रहूँ।"[1] वे चाहते हैं कि उन्हें सारा विश्व शिवमय रूप में दिखाई दे, "हे महादेव! आपके प्रभाव से ये सभी सांसारिक पदार्थ मुझे आपके स्वरूप की सत्ता के रूप में ही प्रतीत हो जायें और जो कोई वस्तु आपसे भिन्न होकर कुछ भी नहीं है, वह मेरे लिए भी सत्ताहीन हो जाये अर्थात् मैं उस वस्तु को वस्तु ही न समझूँ।"[2] उत्पलाचार्य कामना करते हैं, "हे ईश्वर! आकाश में लीन बने हुए मेघ-खण्डों की भाँति संसार के सभी पदार्थ, सदा के लिए निर्मलता को प्राप्त होकर, आपके स्वरूप में ही लीन बने हुए मुझे दिखाई दें।"[3] इस प्रकार आचार्य उत्पलदेव प्रभु-भक्ति में इतनी चरमसीमा को पहुँचे थे कि वे भगवान् शिव के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु के विषय में सोचना भी नहीं चाहते थे। वे स्वयं कहते हैं कि शिव प्रत्येक वस्तु में व्याप्त हैं। इसलिए दु:खी बना हुआ (मैं) बिना प्रयास के ही उन्हें (भगवान् शिव को) प्रत्येक स्थान पर प्राप्त करूँ अर्थात् देखूँ।"[4]

आचार्य उत्पलदेव जानते हैं कि प्रभु के विरह में भक्त सन्तप्त होता है, अत: वे वियोग नहीं चाहते। वे कहते हैं, "हे ईश्वर! क्षण मात्र के लिए भी आपसे अलग होने पर मैं अत्यन्त सन्तप्त होता हूँ, अत: आप मेरे ज्ञान-चक्षु का विषय सदा बने रहें अर्थात् मैं क्षण भर भी आपके साक्षात्कार के आनन्द से वंचित न रहूँ।"।[5] तथा 'हे प्रभो! संक्षेप में मेरे सुख और दु:ख के लक्षण सुनिये, आप (चिद्रूप) के साथ समावेश (एकात्म भाव रूपी), सहवास ही मेरा सुख है और आप स्वामी

---

1. "अन्तर्भक्तिचमत्कारचर्वणामीलितेक्षण:।
नमो मह्यं शिवायेति पूजयन् स्यां तृणान्यपि।।" –वही, 5/15
2. "भावा भावतया सन्तु भवद्भावेन मे भव।
तथा न किञ्चिदप्यस्तु न किञ्चिद्भवतोऽन्यथा।" –वही, 12/28
3. "विलीयमानास्त्वय्येव व्योम्नि मेघलवा इव।
भावा विभान्तु मे शश्वत्क्रमनैर्मल्यगामिन:।।" –वही, 6/7
4. "कां भूमिकां नाधिशेषे किं तत्स्याद्यत्र ते वपु:।
श्रान्तस्तेनाप्रयासेन सर्वतस्त्वामवाप्नुयाम्।।" –वही, 6/9
5. "क्षणमात्रमपीशान वियुक्तस्य त्वया मम।
निबिडं तप्यमानस्य सदा भूया दृश: पदम्।।" –वही, 6/1

का वियोग ही मेरा दुःख है।'[1]

प्रभु के विरह के विषय में कहा जाता है कि भक्त सचमुच ही ज्वर से सन्तप्त होता है। कहते हैं कि अमीर खुसरो ने अपनी माँ को बचपन में ही खोया था, अतः उनका लालन-पालन उनके पिता ने किया था। एक दिन प्रातः काल जब उनके पिता ने उनकी कमीज़ निकाली, तो क्या देखा कि अमीर खुसरो की कमीज़ का अगला भाग (छाती को ढ़ँकने वाला भाग) जल गया था। इसी प्रकार एक दिन रामकृष्ण परमहंस भी ज्वर ग्रस्त थे, बहुत से डॉक्टरों ने कोशिश की, परन्तु उनका ज्वर उतरा नहीं, इतने में एक योगिनी वहाँ आई उसने रामकृष्ण को देखा और उस पर चन्दन का लेप लगाने के लिए कहा। जब ऐसा ही किया गया तो रामकृष्ण का ज्वर उतर गया। इसी प्रकार उत्पलदेवाचार्य का प्रभु-वियोग में सन्तप्त होना युक्तियुक्त ही है।

इसके अतिरिक्त निम्न उदाहरणों से पता चलता है कि उत्पलदेवाचार्य ने भगवान् शिव में समावेश प्राप्त किया था, अतः वे सिद्ध योगी माने जा सकते हैं। उत्पलाचार्य कहते हैं, 'हे प्रभु आपकी समावेशमयी भक्ति का रस जिस तरह मुझे अनजान में ही प्राप्त हुआ, उसी तरह बढ़ता ही जाय।'[2] तथा 'हे प्रभो! भक्ति से युक्त होकर ही संसार (अज्ञान-ग्रस्त) के प्रति क्रोध करूँ (अर्थात् संसार को गँवारों का भवन समझूँ) और इस बात पर पश्चात्ताप करूँ (कि मैं इतने समय तक मोह में पड़ा रहा) तथा आनन्द से हँसता रहूँ (अर्थात् सदा प्रफुल्लित रहूँ) और रोता रहूँ और ज़ोर से 'शिव' 'शिव' की रट लगाता रहूँ।'[3] कहा जाता है कि जब भक्त, साधना के उच्च शिखर पर पहुँचता है तो वह साधारणतः उन्मत्त सा हो जाता है। वह बिना किसी कारण के रोता

---

1. "संग्रहेण सुखदुःखलक्षणं मां प्रति स्थितमिदं शृणु प्रभो!
सौख्यमेष भवता समागमः स्वामिना विरह एव दुःखिता।।" –वही, 13/1
2. "यथैवाज्ञातपूर्वोऽयं भवद्भक्तिरसो मम।
घटितस्तद्वदीशान स एव परिपुष्यतु।।"–वही, 16/5
3. "भक्तिक्षीवोऽपि कुप्येयं भवायानुशयीय च।
तथा हसेयं रुद्यां रटेयं च शिवेत्यलम्।।"–वही, 16/7

है, हँसता है, परन्तु उसकी साधना स्वाभाविक रूप से चलती रहती है। इसी साधना की उच्च चोटी पर उत्पलदेवाचार्य पहुँचे थे, ऐसा उपर्युक्त श्लोक से पता चलता है।

अत: शिवस्तोत्रावली के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उत्पलदेवाचार्य न केवल दार्शनिक थे, अपितु एक प्रभावशाली कवि तथा स्वयं साधना करने वाले एक भक्त तथा भगवान् शिव में रमे उत्कृष्ट एवं सिद्ध योगी भी थे।

उपसंहार

भक्ति का विवेचन जो हमने अब तक किया, उससे स्पष्ट है कि भारतीय जीवन और साहित्य दोनों से उसका गम्भीर, व्यापक और विस्तृत सम्बन्ध है। भारत के प्राचीनतम ग्रन्थों अर्थात् वैदिक ग्रन्थों से ही भक्ति–परम्परा आरम्भ हुई है। वेदों में श्रद्धा एवं भक्ति जैसे शब्दों को देखकर कौन कह सकता है कि भक्ति विदेशों से भारत में आई। वेदों के पश्चात् उपनिषद्-ग्रन्थों में भक्ति का विकसित रूप दिखाई देता है। उपनिषदों से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मबोध के लिए न केवल ज्ञानमार्ग अपितु भक्ति भी आवश्यक है। इस प्रकार निःसन्देह कह सकते हैं कि भक्ति का बीज जो वेदों में दिखाई दिया था, वह उपनिषदों में पूर्ण रूपेण अंकुरित हुआ। पुराणकाल में भक्ति का स्वरूप पल्लवित एवं स्पष्ट हो गया और अधिकांश देव उस रूप में आ गए, जिसमें हम आज उन्हें पूजते हैं। वैदिक काल के विष्णु; नारायण, वासुदेव, कृष्ण आदि नाम से उपास्य बने तथा रुद्र; पशुपति, महादेव, शिव आदि नाम से उपास्य बने।

इसी भक्ति रूपी बीज का विकास श्रीमद्‌भागवत में दिखाई देता है, अर्थात् 'श्रीमद्‌भागवत' में यह (भक्ति रूपी बीज) पूर्ण रूपेण पुष्पित एवं पल्लवित हो गया। श्रीमद्‌भागवत का मुख्य उद्देश्य वैष्णव भक्ति का निरूपण करना है। यह ग्रन्थ आदि मे अन्त तक भक्ति-भाव से ओत–प्रोत है। इसमें मानव के परम कल्याण के लिए केवल तीन मार्ग माने गये हैं। वे हैं 'ज्ञान योग', 'कर्म योग' तथा 'भक्ति योग'। इनमें से भक्ति को ही सर्वोत्कृष्ट मानकर, मुक्ति ही उसका फल माना गया है। नवधा भक्ति तो इसी ग्रन्थ की देन है। अतः इस ग्रन्थ में प्रभु-भक्ति की ओर मनुष्य का झुकाव स्पष्ट दिखाई देता है।

आगे ऐतिहासिक महाकाव्यों अर्थात् रामायण एवं महाभारत में भक्ति-सिद्धान्तों का पर्याप्त विकास लक्षित होता है। इन दोनों महाकाव्यों ने विष्णु के अवतारों भगवान् राम एवं भगवान् कृष्ण को क्रमशः नरोत्तम अर्थात् नरश्रेष्ठ की उपाधि दे दी। इन्हीं के आधार पर आगे राम-भक्त एवं कृष्ण-भक्त इन दो नामों से भक्त प्रचलित हुए। इन महाकाव्यों में भक्ति न केवल राम एवं कृष्ण के प्रति दिखाई देती है अपितु अन्य देवों जैसे ब्रह्मा, शिव, सूर्य, विष्णु आदि के प्रति भी अपूर्व भक्ति प्रमाणित है।

समस्त शास्त्रों का सार श्रीमद्भगवद्गीता भक्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें वैष्णव धर्म के आधारभूत एवं प्रथम सार्वभौम आचार्य भगवान् श्रीकृष्ण ने वैदिक धर्म में अनेकानेक अपेक्षित सुधार करके; भक्ति, कर्म एवं ज्ञान आदि का नवीनतम विवेचन विश्लेषण किया। गीता के बारहवें अध्याय में केवल भक्ति का ही विवेचन किया गया है। इस प्रकार से श्रीमद्भगवद्गीता में यही दर्शाया गया है कि परम-तत्त्व से साक्षात्कार करने के लिए भक्ति-मार्ग ही सर्वोत्तम है।

लौकिक संस्कृत-साहित्य के कवियों की भक्ति-भावना भी उनकी कृतियों से लक्षित होती है। इनमें कालिदास, भास, अश्वघोष, भवभूति, माघ आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार से संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत महाकाव्य, नाटक आदि सभी भक्ति-भावना से ओत-प्रोत हैं।

आचार्य शंकर से पूर्व तमिलनाडु में शैव-भक्त नायनमारों और वैष्णव-भक्त आलवारों ने भक्ति-भावना का पोषण किया। सर्वप्रथम नवीं शताब्दी में आचार्य नाथमुनि हुए, जिनके कार्य को यामुनाचार्य ने आगे बढ़ाया। यामुनाचार्य के पश्चात् रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत की नींव डाली। निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत का प्रचार किया। मध्वाचार्य ने शंकर के अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत का तीव्र विरोध किया और द्वैतमत की स्थापना की। शंकर के अद्वैतवाद के विरोध में विष्णु स्वामी का नाम भी आता है। उनके शिष्य वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत मत को निर्धारित किया। इसके भक्ति-पक्ष को पुष्टिमार्ग कहते हैं। इस प्रकार से

शंकराचार्य ने स्मार्त-भक्ति, वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्गीय-भक्ति एवं चैतन्य महाप्रभु प्रभृति आचार्यों ने रहस्यवादी भक्ति को स्थापित किया। इसी परम्परा में आगे रामानन्द जैसे उच्च-स्तर के विद्वान् भी आते हैं। इन्हीं के शिष्यों में महाकवि तुलसीदास एवं कबीरदास गिने जाते हैं, जिनके काव्य भक्ति से ओत-प्रोत हैं।

कश्मीर जिसे प्रकृति ने अपनी गोद में लेकर सौन्दर्य का अनूठा उदाहरण बनाकर, विश्व-विख्यात कर दिया, उसी कश्मीर भूमि को कश्मीर शैव-दर्शन नामक अद्वैत दर्शन को जन्म देने एवं अपनी गोद में विकसित करने का गौरव प्राप्त हुआ है। इसी कश्मीर-भूमि ने इस अद्वैत-दर्शन के ऐसे दार्शनिकों को जन्म दिया, जिन्होंने इसका सिर गर्व से ऊँचा कर दिया। इन दार्शनिकों की परम्परा में वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पलदेव, अभिनवगुप्त आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। कश्मीर शैव-दर्शन में आत्मा और परमात्मा के अद्वैत सम्बन्ध का प्रतिपादन हुआ है। इसके अनुसार यह विश्व और इसमें बसने वाले समस्त प्राणी शरीर हैं, जिनकी आत्मा शिव है, विश्व शिव से अभिन्न है। आचार्य अभिनवगुप्त ने परमेश्वर और जगत् का परस्पर सम्बन्ध दर्पण-बिम्बवत् माना है। कश्मीर शैव-दर्शन का सारा उपदेश जीव को अपना वास्तविक स्वरूप समझने में सक्षम बनाने के लिए है।

कश्मीर शैव-दर्शन में मोक्ष-प्राप्ति अथवा स्वरूप-साक्षात्कार के लिए योगाभ्यास, तपस्या, अर्चना, ध्यान, आदि साधनों की तुलना में अनुपाय (अनुग्रह) अथवा भक्ति ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

उत्पलदेवाचार्य ने भी शिवस्तोत्रावली में योगाभ्यास, तपस्या आदि पूजा के क्रमों की अपेक्षा भक्ति को ही प्रशस्यया सर्वश्रेष्ठ माना है। शिवस्तोत्रावली में भक्ति का जैसा उच्चतम आदर्श है, वैसा अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होता। अन्य सम्प्रदायों में भक्त के लिए सीमाएँ होती हैं, पर यहाँ भक्त के लिए कोई सीमा नहीं, कोई बन्धन नहीं, वह इन सबसे परे है, केवल उस परमात्मा के समीप है। शिवस्तोत्रावली में भक्ति को सर्वोत्कृष्ट मानने के कुछ आधार इस प्रकार हैं– यहाँ भक्ति को विश्वव्यापक कहा गया है, अर्थात् भक्त के लिए जाति-पाँति,

ऊँच-नीच का भेद नहीं है। हर प्रकार के मनुष्य इस भक्ति-रूपी सागर में समा सकते हैं। जैसा कि उत्पलाचार्य स्वयं कहते हैं, "हे ईश्वर! चूंकि आप सम्पूर्ण चित्-प्रकाश की जन्म-भूमि हैं, इसलिये आपका प्रत्येक भक्त चाहे वह जाति से रत्न के समान उत्कृष्ट (अर्थात् उत्तम जाति या चरित्र वाला) हो अथवा तिनके के समान निकृष्ट (अर्थात् नीच, तुच्छ चरित्र वाला) आप चित्स्वरूप के साथ समावेश प्राप्त करने पर अमूल्य अर्थात् अलौकिक बन जाता है।

यहाँ भक्ति का रूप सम्पूर्ण संसार के लिए कल्याणकारी माना गया है, क्योंकि भक्तों के सभी व्यवहार और वचन लोकोपकार की भावना से प्रेरित होते हैं, स्वार्थ-सिद्धि की भावना से नहीं। यहाँ उन भक्तों की ओर इशारा है, जो प्रभु के निर्विकल्प दर्शन से खिल उठते हैं अर्थात् जो प्रभु में समावेश करने वाले भक्त होते हैं।

यहाँ समावेशमयी भक्ति को ही मुक्ति का साधन माना गया है। जिन भक्तों पर प्रभु की दया-दृष्टि एवं अनुग्रह होता है, वे सदा के लिए जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाते हैं। अर्थात् समावेशमयी भक्ति ही मुक्ति है। समावेशमयी भक्ति के अन्तर्गत ही अणिमा आदि आठों सिद्धियों की सम्पत्तियाँ मानी गई हैं। इसी भक्ति को ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट अवस्था और योग की पराकाष्ठा माना गया है। अर्थात् भक्ति को ज्ञान एवं योग से उत्तम माना गया है।

यहाँ भक्ति-शील बनने के लिए भक्त को गृहस्थ-आश्रम त्यागने का उपदेश नहीं दिया गया है। मनुष्य सांसारिक बन्धन में रहते हुए भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार से शिवस्तोत्रावली में अनुग्रहपूर्ण समावेशमयी भक्ति पूर्ण-रूपेण छायी हुई है। यहाँ भक्ति को सर्वोत्कृष्ट माना गया है। वास्तव में उत्पलाचार्य ही भक्ति के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। उत्पलाचार्य की इस उत्कृष्ट भक्ति को देखकर ऐसा लगता है कि इन्हें प्रभु का साक्षात्कार हो गया था, अतः चरम अवस्था पर पहुँचे हुए इस भक्त ने अनुग्रहरूपा भक्ति को आत्मानुभूति से ओत-प्रोत भावमयी स्तोत्र-पयस्विनी के रूप में मानव-कल्याण हेतु उपस्थापित किया है।

ग्रन्थ सूची

मौलिक ग्रन्थ :

क) **शिवस्तोत्रावली**–क्षेमराज टीका सहिता, श्रीराजानक लक्ष्मणविरचित हिन्दी व्याख्या, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, आफिस, वाराणसी, द्वितीय संस्करण संवत् 2021

ख) **शिवस्तोत्रावली**–अंग्रेजी अनुवाद श्री एन॰ के॰ कोतरू, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1985

वैदिक एवं औपनिषदिक ग्रन्थ

1. ऋग्वेद संहिता – प॰ श्रीपाद दामोदर सातवलेकर (सं.), स्वाध्याय मण्डल, पारडी, षष्ठ संस्करण, 1997
2. यजुर्वेद संहिता – नाग प्रकाशन, दिल्ली, 1994
3. अथर्ववेद संहिता – नाग प्रकाशन, दिल्ली, 1994
4. छान्दोग्य उपनिषद् – गीताप्रेस (शांकर भाष्य सहित), गोरखपुर, संवत् 2013
5. केनोपनिषद् – (शांकर भाष्य सहित) गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2008
6. माण्डूक्योपनिषद् – (शांकर भाष्य सहित) गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2007
7. श्वेताश्वतरोपनिषद् – (शांकर भाष्य सहित) गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2007

8. तैत्तिरीयोपनिषद् – (शांकर भाष्य सहित) गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2008

9. मुण्डकोपनिषद् – (शांकर भाष्य सहित) गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2009

संस्कृत ग्रन्थ

1. अभिनवगुप्त, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, कश्मीर ग्रन्थावली, 1921

2. अभिनवगुप्त, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, कश्मीर ग्रन्थावली, 1941

3. अभिनवगुप्त, तन्त्रालोक (जयरथकृत टीका-सहित), कश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1916

4. अभिनवगुप्त, परमार्थसार (योगराजकृत टीका-सहित), कश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1916

5. अभिनवगुप्त, परात्रिशिका (विवरण-सहित), कश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1918

6. अभिनवगुप्त, मालिनीविजय-तन्त्र, कश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1922

7. अभिनवगुप्त, मालिनीविजय-वार्त्तिक, कश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1921

8. अश्वघोष, सौन्दरानन्द, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,

9. उत्पलदेव, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (वृत्ति सहित), कश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर 1921

10. कालिदास, कुमारसम्भवम्, (सं.) सूर्यकान्त, साहित्य अकादमी, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1962

11. कालिदास, मेघदूतम्, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1943

12. कालिदास, रघुवंशम्, साहित्य अकादमी, 1966

13. कालिदास, विक्रमोर्वशीयम्, साहित्य अकादमी,. 1982

14. क्षेमराज, पराप्रवेशिका, कश्मीर शैव दर्शन मठिका, प्रथम संस्करण, श्रीनगर, कश्मीर 1984

15. क्षेमराज, प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, (हि॰ अनुवाद) जयदेव सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1973

16. दण्डी, काव्यादर्श (सं॰, धर्मेन्द्र गुप्त), मेहरचन्द लछमनदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1973

17. भट्टनारायण, स्तवचिन्तामणि, कश्मीर ग्रन्थावली सं॰ 10, श्रीनगर, 1918

18. भट्टि, भट्टिकाव्य, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी

19. भवभूति, उत्तररामचरितम्, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी

20. भवभूति, महावीरचरितम्, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी

21. भामह, काव्यालंकार, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1962

22. माघ, शिशुपालवधम्, चौखम्भा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी, 1983

23. माधवाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह, (अनुवाद-उमाशंकर ऋषि), चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी

24. मधुसूदन मिश्र, भगवद्भक्तिरसायन

25. रूपगोस्वामी, उज्ज्वलनीलमणि

26. रूपगोस्वामी, भक्तिरसामृतसिन्धु, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली

27. वाल्मिकी, रामायण, (सं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर), स्वाध्याय मण्डल, पारडी

28. व्यास, महाभारत, (सं. विष्णु एस. सुकथंकर), भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना

29. व्यास, श्रीमद्भगवद्गीता

30. शाण्डिल्यभक्तिसूत्र, (सं. बलदेव उपाध्याय), वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण 1967

31. सोमानन्द, शिवदृष्टि, उत्पलदेवकृत वृत्ति-सहित), कश्मीर ग्रन्थावली 1934

सहायक ग्रन्थ –

1. अन्नपूर्णा देव : रघुवंश-परिशीलन, आर्य बुक डिपो, करोल बाग, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1982

2. एन. चन्द्रकान्त : तमिल और हिन्दी का भक्ति साहित्य, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, प्रथम संस्करण, 1971

3. एम. जॉर्ज : भक्ति आन्दोलन और साहित्य, प्रगति प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण, 1978

4. कमला भण्डारी : मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैवमत का प्रभाव, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण, 1971

5. कुँवरलाल व्यासशिष्य : इतिहास-पुराण साहित्य का इतिहास, इतिहास-विद्या प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण, 1978

6. कैलाशपति मिश्र : काश्मीर शैव-दर्शन (मूल सिद्धान्त) अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, नवाबगंज, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1982

7. गया चरण त्रिपाठी : वैदिक देवताओं का उद्‌भव एवं विकास (दो भागों में) भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1982

8. गिरिधारी लाल शास्त्री : हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य की पृष्ठभूमि, भारत प्रकाशन मन्दिर (रजि.) अलीगढ़, प्रथम संस्करण, 1978

9. जयदयाल गोयन्दका : नवधा भक्ति, गीताप्रेस, गोरखपुर

10. जयनाथ नलिन : भक्तिकाव्य में माधुर्य भाव का स्वरूप, बंसल एण्ड कम्पनी, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1966

11. तुलसीदास : रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर

12. दुर्गा प्रसाद काचरू : लल्लद्यद, कश्मीर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, श्रीनगर, प्रथम संस्करण

13. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी-साहित्य-कोश, ज्ञान मण्डल, वाराणसी, प्रथम संस्करण

14. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, संवत्, 2021

15. परशुराम चतुर्वेदी : वैष्णव धर्म

16. प्रभुदत्त ब्रह्मचारी : चैतन्य चरितावली (5 खण्ड), गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 1994

17. बलजिनाथ पण्डित : कश्मीर शैव-दर्शन,
श्रीरणवीर केन्द्रीय
संस्कृत विद्यापीठ जम्मू,
प्रथम संस्करण, 1982

18. बलदेव उपाध्याय : भागवत सम्प्रदाय,
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी,
प्रथम संस्करण, सम्वत् 2010

19. मुंशीराम शर्मा : भक्ति का विकास,
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी,
1958

20. यदुवंशी : शैवमत
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना,
प्रथम संस्करण, 1955

21. रंजन : भारतेन्दु युगीन काव्य में
भक्तिधारा,
रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम
संस्करण, 1975

22. राजवंश सहाय 'हीरा' : भारतीय साहित्यशास्त्र कोश,
बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी,
पटना, 1973

23. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' : हिन्दी शिव काव्य का उद्भव
और विकास,
राजस्थान प्रकाशन, जयपुर

24. रामचन्द्र पाण्डेय : प्राचीन भारतीय साहित्य
(विन्ट्रनित्ज़) (अनु.),
मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,
प्रथम संस्करण, 1978

25. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, 1997 (संवत्)

26. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1956

27. रामनाथन् : हिन्दी और तेलुगु वैष्णव भक्ति-साहित्य, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम संस्करण, 1968

28. रामनारायण पाण्डेय : भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1966

29. लक्ष्मीकान्त 'मुक्त' : सूर मीमांसा-रहस्य, ओरिएण्टल बुक डिपो, दिल्ली

30. वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, संवत् 2022

31. सत्यनारायण शर्मा : रामचरितमानस में भक्ति, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, प्रथम संस्करण, 1970

32. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी : नाथ-सम्प्रदाय

33. हरवंशलाल शर्मा : सूर और उनका साहित्य, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, प्रथम संस्करण

34. हिरण्यम् : हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति का तुलनात्मक अध्ययन, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्रथम संस्करण, 1959

अंग्रेजी ग्रन्थ :-

1. Abhinavgupta (An Historical And Philosophical Study _ K. C. Pandey. The Chowkhamba Sanskrit Series office, Varanasi, 2nd Edition, 1963.
2. 'A New History of Sanskrit Literature' by Krishna Chaitnya, Manohar publishers 1965.
3. 'Bhaktiyoga' Ashwani Kumar Dutta (translated by Gunada Charan Sen) Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay, Third Edition 1981.
4. 'History of Sanskrit Literature' Arthur Anthony Macdonnel, Munshiram Manohar Lal, Delhi, 5th Edition, 1985.
5. 'Indian Philosophy' (2 Volume) Dr. S. Radha Krishnan, Unwin Brothers, Limited, Britain, 1956.
6. 'Kashmir Shaivism' Sh. J. C. Chatterji, Research and Publication department, Jammu & Kashmir government, Srinagar. 2nd Edition 1962.
7. Medieval Religious Literature in Sanskrit, Jan Gonda, Wiesbaden, 1977
8. 'The Doctrine of Recognition' - Dr. R. K. Kaw, Visheveshwaranand Vedic Research Institute, Hoshiarpur, 1st Edition 1962
9. 'Vaishnavism, Shaivism and other Minor Religious Systems' - R. G. Bhandarkar, Strassburg, 1913

पत्र – पत्रिकाएँ :

1. 'The Culture of Kashmir' - S.M. Iqbal, K.L.Nirash, Marwah Publication, New Delhi, 1988.

The Eighty four Hymns of Hita Harivaṁśa Rupert Snell, Motilal Banarasidass, Delhi, I ed. 1991

2. "नीलम" (द्वितीय तरंग) प्रकाशक – जम्मू कश्मीर राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, श्रीनगर।

3. भक्ति अंक – "कल्याण" के बत्तीसवें वर्ष का विशेषांक, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् 2014

4. "वितस्ता" (1983 ई॰ वसन्त अंक), प्रकाशक: हिन्दी विभाग कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर।

5. "शीराज़ा" (दिसम्बर 1985 – जनवरी 1986) प्रकाशक जे॰ एण्ड के॰ अकादमी ऑफ आर्ट कल्चर एण्ड लैंग्वेज़िज।

परिशिष्ट-1

।। अथ श्रीमदुत्पलदेवाचार्य विरचिता

श्रीशिवस्तोत्रावली।।

स्तोत्र-सूची

॥ श्रीशिवस्तोत्रावली ॥

भक्तिविलासाख्यं प्रथमं स्तोत्रम्

न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्॥ 1॥

आत्मा मम भवद्भक्तिसुधापानयुवाऽपि सन्।
लोकयात्रारजोरागात्पलितैरिव धूसरः॥ 2॥

लब्धत्वत्संपदां भक्तिमतां त्वत्पुरवासिनाम्।
सञ्चारो लोकमार्गेऽपि स्यात्तयैव विजृम्भया॥ 3॥

साक्षाद्भवन्मये नाथ सर्वस्मिन् भुवनान्तरे।
किं न भक्तिमतां क्षेत्रं मन्त्रः क्वैषां न सिद्ध्यति॥ 4॥

जयन्ति भक्तिपीयूषरसासववरोन्मदाः।
अद्वितीया अपि सदा त्वद्द्वितीया अपि प्रभो!॥ 5॥

अनन्तानन्दसिन्धोस्ते नाथ तत्त्वं विदन्ति ते।
तादृशा एव ये सान्द्रभक्त्यानन्दरसाप्लुताः॥ 6॥

त्वमेवात्मेश सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान्।
इति स्वभावसिद्धां त्वद्भक्तिं जानञ्जयेज्जनः॥ 7॥

नाथ वेद्यक्षये केन न दृश्योऽस्येककः स्थितः।
वेद्यवेदकसंक्षोभेऽप्यसि भक्तैः सुदर्शनः॥ 8॥

अनन्तानन्दसरसी देवी प्रियतमा यथा।
अवियुक्तास्ति ते तद्वदेका त्वद्भक्तिरस्तु मे॥ 9॥

सर्व एव भवल्लाभहेतुर्भक्तिमतां विभो!
संविन्मार्गोऽयमाह्लाददुःखमोहैस्त्रिधा स्थितः॥ 10॥

भवद्भक्त्यमृतास्वादाद्बोधस्य स्यात्परापि या।
दशा सा मां प्रति स्वामिन्नासवस्येव शुक्तता॥ 11॥

भवद्भक्तिमहाविद्या येषामभ्यासमागता।
विद्याविद्योभयस्यापि त एते तत्त्ववेदिनः॥ 12॥

आमूलाद्वाग्लता सेयं क्रमविस्फारशालिनी।
त्वद्भक्तिसुधया सिक्ता तद्रसाढ्यफलास्तु मे॥ 13॥

शिवो भूत्वा यजेतेति भक्तो भूत्वेति कथ्यते।
त्वमेव हि वपुः सारं भक्तैरद्वयशोधितम्॥ 14॥

भक्तानां भवदद्वैतसिद्ध्यै का नोपपत्तयः।
तदसिद्ध्यै निकृष्टानां कानि नावरणानि वा॥ 15॥

कदाचित्क्वापि लभ्योऽसि योगेनेतीश वञ्चना।
अन्यथा सर्वकक्ष्यासु भासि भक्तिमतां कथम्॥ 16॥

प्रत्याहाराद्यसंस्पृष्टो विशेषोऽस्ति महानयम्।
योगिभ्यो भक्तिभाजां यद्व्युत्थानेऽपि समाहिताः॥ 17॥

न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते॥ 18॥

सर्वतो विलसद्भक्तितेजोध्वस्तावृतेर्मम।
प्रत्यक्षसर्वभावस्य चिन्तानामापि नश्यतु॥ 19॥

शिव इत्येकशब्दस्य जिह्वाग्रे तिष्ठतः सदा।
समस्तविषयास्वादो भक्तेष्वेवास्ति कोऽप्यहो॥ 20॥

शान्तकल्लोलशीताच्छस्वादुभक्तिसुधाम्बुधौ।
अलौकिकरसास्वादे सुस्थैः को नाम गण्यते॥ 21॥

मादृशैः किं न चर्व्येत भवद्भक्तिमहौषधिः।
तादृशी भगवन्यस्या मोक्षाख्योऽनन्तरो रसः॥ 22॥

ता एव परमर्थ्यन्ते सम्पदः सद्भिरीश याः।
त्वद्भक्तिरससम्भोगविस्रम्भपरिपोषिकाः॥ 23॥

चित्रं निसर्गतो नाथ दुःखबीजमिदं मनः।
त्वद्भक्तिरससंसिक्तं निःश्रेयसमहाफलम्॥ 24॥

भवद्भक्तिसुधासारस्तैः किमप्युपलक्षितः।
ये न रागादिपङ्केऽस्मिँल्लिप्यन्ते पतिता अपि॥ 25॥

अणिमादिषु मोक्षान्तेष्वङ्गेष्वेव फलाभिधा।
भवद्भक्तेर्विपक्वाया लताया इव केषुचित्॥ 26॥

सर्वात्मपरिभावनाख्यं द्वितीयं स्तोत्रम्

अग्नीषोमरविब्रह्मविष्णुस्थावरजङ्गम-
स्वरूप बहुरूपाय नमः संविन्मयाय ते॥ 1॥

विश्वेन्धनमहाक्षारानुलेपशुचिवर्चसे।
महानलाय भवते विश्वैकहविषे नमः॥ 2॥

परमामृतसान्द्राय शीतलाय शिवाग्नये।
कस्मैचिद्विश्वसंप्लोषविषमाय नमोऽस्तु ते॥ 3॥

महादेवाय रुद्राय शङ्कराय शिवाय ते।
महेश्वरायापि नमः कस्मैचिन्मन्त्रमूर्तये॥ 4॥

नमो निकृत्तनिःशेषत्रैलोक्यविगलद्वसा-
वसेकविषमायापि मङ्गलाय शिवाग्नये॥ 5॥

समस्तलक्षणायोग एव यस्योपलक्षणम्।
तस्मै नमोऽस्तु देवाय कस्मैचिदपि शम्भवे॥ 6॥

वेदागमविरुद्धाय वेदागमविधायिने।
वेदागमसतत्त्वाय गुह्याय स्वामिने नमः॥ 7॥

संसारैकनिमित्ताय संसारैकविरोधिने।
नमः संसाररूपाय निःसंसाराय शम्भवे॥ 8॥

मूलाय मध्यायाग्राय मूलमध्याग्रमूर्तये।
क्षीणाग्रमध्यमूलाय नमः पूर्णाय शम्भवे॥ 9॥

नमः सुकृतसंभारविपाकः सकृदप्यसौ।
यस्य नामग्रहः तस्मै दुर्लभाय शिवाय ते॥ 10॥

नमश्चराचराकारपरेतनिचयैः सदा।
क्रीडते तुभ्यमेकस्मै चिन्मयाय कपालिने॥ 11॥

मायाविने विशुद्धाय गुह्याय प्रकटात्मने।
सूक्ष्माय विश्वरूपाय नमश्चित्राय शम्भवे॥ 12॥

ब्रह्मेन्द्रविष्णुनिर्व्यूढजगत्संहारकेलये।
आश्चर्यकरणीयाय नमस्ते सर्वशक्तये॥ 13॥

तटेष्वेव परिभ्रान्तैः लब्धास्तास्ता विभूतयः।
यस्य तस्मै नमस्तुभ्यमगाधहरसिन्धवे॥ 14॥

मायामयजगत्सान्द्रपङ्कमध्याधिवासिने।
अलेपाय नमः शम्भुशतपत्राय शोभिने॥ 15॥

मङ्गलाय पवित्राय निधये भूषणात्मने।
प्रियाय परमार्थाय सर्वोत्कृष्टाय ते नमः॥ 16॥

नमः सततबद्धाय नित्यनिर्मुक्तिभागिने।
बन्धमोक्षविहीनाय कस्मैचिदपि शम्भवे॥ 17॥

उपहासैकसारेऽस्मिन्नेतावति जगत्त्रये।
तुभ्यमेवाद्वितीयाय नमो नित्यसुखासिने॥ 18॥

दक्षिणाचारसाराय वामाचाराभिलाषिणे।
सर्वाचाराय शर्वाय निराचाराय ते नमः॥ 19॥

यथा तथापि यः पूज्यो यत्रतत्रापि योऽर्चितः।
योऽपि वा सोऽपि वा योऽसौ देवस्तस्मै नमोऽस्तु ते॥ 20॥

मुमुक्षुजनसेव्याय सर्वसन्तापहारिणे।
नमो विततलावण्यवाराय वरदाय ते॥ 21॥

सदा निरन्तरानन्दरसनिर्भरिताखिल–
त्रिलोकाय नमस्तुभ्यं स्वामिने नित्यपर्वणे॥ 22॥

सुखप्रधानसंवेद्यसम्भोगैर्भजते च यत्।
त्वामेव तस्मै घोराय शक्तिवृन्दाय ते नमः॥ 23॥

मुनीनामप्यविज्ञेयं भक्तिसम्बन्धचेष्टिताः।
आलिङ्गन्त्यपि यं तस्मै कस्मैचिद्भवते नमः॥ 24॥

परमामृतकोशाय परमामृतराशये।
सर्वपारम्यपारम्यप्राप्याय भवते नमः॥ 25॥

महामन्त्रमयं नौमि रूपं ते स्वच्छशीतलम्।
अपूर्वामोदसुभगं परामृतरसोल्वणम्॥ 26॥

स्वातन्त्र्यामृतपूर्णत्वदैक्यख्यातिमहापटे।
चित्रं नास्त्येव यत्रेश तन्नौमि तव शासनम्॥ 27॥

सर्वाशङ्काशनिं सर्वालक्ष्मीकालानलं तथा।
सर्वामङ्गल्यकल्पान्तं मार्गं माहेश्वरं नुमः॥ 28॥

जय देव नमो नमोऽस्तु ते सकलं विश्वमिदं तवाश्रितम्।
जगतां परमेश्वरो भवान् परमेकः शरणागतोऽस्मि ते॥ 29॥

प्रणयप्रसादाख्यं तृतीयं स्तोत्रम्

सदसत्त्वेन भावनां युक्ता या द्वितयी गतिः।
तामुल्लङ्घ्य तृतीयस्मै नमश्चित्राय शम्भवे॥ 1॥

आसुरर्षिजनादस्मिन्नस्वतन्त्रे जगत्त्रये।
स्वतन्त्रास्ते स्वतन्त्रस्य ये तवैवानुजीविनः॥ 2॥

अशेषविश्वखचितभवद्वपुरनुस्मृतिः।
येषां भवरुजामेकं भेषजं ते सुखासिनः॥ 3॥

सितातपत्रं यस्येन्दुः स्वप्रभापरिपूरितः।
चामरं स्वर्धुनीस्त्रोतः स एकः परमेश्वरः॥ 4॥

प्रकाशां शीतलामेकां शुद्धां शशिकलामिव।
दृशं वितर मे नाथ कामप्यमृतवाहिनीम्॥ 5॥

त्वच्चिदानन्दजलधेश्च्युताः संवित्तिविप्रुषः।
इमाः कथं मे भगवन्नामृतास्वादसुन्दराः॥ 6॥

त्वयि रागरसे नाथ न मग्नं हृदयं प्रभो!
येषामहृदया एव तेऽवज्ञास्पदमीदृशाः॥ 7॥

प्रभुणा भवता यस्य जातं हृदयमेलनम्।
प्राभवीणां विभूतीनां परमेकः स भाजनम्॥ 8॥

हर्षाणामथ शोकानां सर्वेषां प्लावकः समम्।
भवद्ध्यानामृतापूरो निम्नानिम्नभुवामिव॥ 9॥

केव न स्याद्दशा तेषां सुखसम्भारनिर्भरा।
येषामात्माधिकेनेश न क्वापि विरहस्त्वया॥ 10॥

गर्जामि बत नृत्यामि पूर्णा मम मनोरथाः।
स्वामी ममैष घटितो यत्त्वमत्यन्तरोचनः॥ 11॥

नान्यद्वेद्यं क्रिया यत्र नान्यो योगो विदा च यत्।
ज्ञानं स्यात् किन्तु विश्वैकपूर्णा चित्त्वं विजृम्भते॥ 12॥

दुर्जयानामनन्तानां दुःखानां सहसैव ते।
हस्तात्पलायिता येषां वाचि शश्वच्छिवध्वनिः॥ 13॥

उत्तमः पुरुषोऽन्योऽस्ति युष्मच्छेषविशेषितः।
त्वं महापुरुषस्त्वेको निःशेषपुरुषाश्रयः॥ 14॥

जयन्ति ते जगद्वन्द्या दासास्ते जगतां विभो।
संसारार्णव एवैष येषां क्रीडामहासरः॥ 15॥

आसतां तावदन्यानि दैन्यानीह भवज्जुषाम्।
त्वमेव प्रकटीभूया इत्यनेनैव लज्ज्यते॥ 16॥

मत्परं नास्ति तत्रापि जापकोऽस्मि तदैक्यतः।
तत्त्वेन जप इत्यक्षमालया दिशसि क्वचित्॥ 17॥

सतोऽवश्यं परमसत्सच्च तस्मात्परं प्रभो!
त्वं चासतस्सतश्चान्यस्तेनासि सदसन्मयः॥ 18॥

सहस्रसूर्यकिरणाधिकशुद्धप्रकाशवान्।
अपि त्वं सर्वभुवनव्यापकोऽपि न दृश्यसे॥ 19॥

जडे जगति चिद्रूपः किल वेद्योऽपि वेदकः।
विभुर्मिते च येनासि तेन सर्वोत्तमो भवान्॥ 20॥

अलमाक्रन्दितैरन्यैरियदेव पुरः प्रभोः।
तीव्रं विरौमि यन्नाथ मुह्याम्येवं विदन्नपि॥ 21॥

सुरसोद्बलाख्यं चतुर्थं स्तोत्रम्

चपलमसि यदपि मानस तत्रापि श्लाघ्यसे यतो भजसे।
शरणानामपि शरणं त्रिभुवनगुरुमम्बिकाकान्तम्॥ 1॥

उल्लङ्घ्य विविधदैवतसोपानक्रममुपेयशिवचरणान्।
आश्रित्याप्यधरतरां भूमिं नाद्यापि चित्रमुज्झामि॥ 2॥

प्रकटय निजमध्वानं स्थगयतरामखिललोकचरितानि।
यावद्भवामि भगवंस्तव सपदि सदोदितो दासः॥ 3॥

शिव शिव शम्भो शङ्कर शरणागतवत्सलाशु कुरु करुणाम्।
तव चरणकमलयुगलस्मरणपरस्य हि सम्पदोऽदूरे॥ 4॥

तावकाङ्घ्रिकमलासनलीना ये यथारुचि जगद्रचयन्ति।
ते विरिञ्चिमधिकारमलेनालिप्तमस्ववशमीश हसन्ति॥ 5॥

त्वत्प्रकाशवपुषो न विभिन्नं किञ्चन प्रभवति प्रतिभातुम्।
तत्सदैव भगवन् परिलब्धोऽसीश्वर प्रकृतितोऽपि विदूरः॥ 6॥

पादपङ्कजरसं तव केचिद् भेदपर्युषितवृत्तिमुपेताः।
केचनापि रसयन्ति तु सद्यो भातमक्षतवपुर्द्वयशून्यम्॥ 7॥

नाथ विद्युदिव भाति विभा ते या कदाचन ममामृतदिग्धा।
सा यदि स्थिरतरैव भवेत्तत् पूजितोऽसि विधिवत्किमुतान्यत्॥ 8॥

सर्वमस्यपरमस्ति न किञ्चिद् वस्त्ववस्तु यदि वेति महत्या।
प्रज्ञया व्यवसितोऽत्र यथैव त्वं तथैव भव सुप्रकटो मे॥ 9॥

स्वेच्छयैव भगवन्निजमार्गे कारितः पदमहं प्रभुणैव।
तत्कथं जनवदेव चरामि त्वत्पदोचितमवैमि न किञ्चित्॥ 10॥

कोऽपि देव हृदि तेषु तावको जृम्भते सुभगभाव उत्तमः।
त्वत्कथाम्बुदनिनादचातका येन तेऽपि सुभगीकृताश्चिरम्॥ 11॥

त्वज्जुषां त्वयि कयापि लीलया राग एष परिपोषमागतः।
यद्वियोगभुवि सङ्कथा तथा संस्मृतिः फलति संगमोत्सवम्॥ 12॥

यो विचित्ररससेकवर्धितः शङ्करेति शतशोऽप्युदीरितः।
शब्द आविशति तिर्यगाशयेष्वप्ययं नवनवप्रयोजनः॥ 13॥

ते जयन्ति मुखमण्डले भ्रमन् अस्ति येषु नियतं शिवध्वनिः।
यः शशीव प्रसृतोऽमृताशयात् स्वादु संस्त्रवति चामृतं परम्॥ 14॥

परिसमाप्तमिवोग्रमिदं जगद् विगलितोऽविरलो मनसो मलः।
तदपि नास्ति भवत्पुरगोपुरार्गलकवाटविघट्टनमण्वपि॥ 15॥

सततफुल्लभवन्मुखपङ्कजो-
दरविलोकनलालसचेतसः।
किमपि तत्कुरु नाथ मनागिव
स्फुरसि येन ममाभिमुखस्थितिः॥ 16॥

त्वदविभेदमतेरपरं नु किं सुखमिहास्ति विभूतिरथापरा।
तदिह तावकदासजनस्य किं कुपथमेति मनः परिहृत्य ताम्॥17॥

क्षणमपीह न तावकदासतां प्रति भवेयमहं किल भाजनम्।
भवदभेदरसासवमादरादविरतं रसयेयमहं न चेत्॥ 18॥

न किल पश्यति सत्यमयं जनस्तव वपुर्द्वयदृष्टिमलीमसः।
तदपि सर्वविदाश्रितवत्सलः किमिदमारटितं न शृणोषि मे॥ 19॥

स्मरसि नाथ कदाचिदपीहितं विषयसौख्यमथापि मयार्थितम्।
सततमेव भवद्वपुरीक्षणामृतमभीष्टमलं मम देहि तत्॥ 20॥

किल यदैव शिवाध्वनि तावके कृतपदोऽस्मि महेश तवेच्छया।
शुभशतान्युदितानि तदैव मे किमपरं मृगये भवतः प्रभो!॥ 21॥

यत्र सोऽस्तमयमेति विवस्वाँश्चन्द्रमाप्रभृतिभिः सह सर्वैः।
कापि सा विजयते शिवरात्रिः स्वप्रभाप्रसरभास्वररूपा॥ 22॥

अप्युपार्जितमहं त्रिषु लोकेष्वाधिपत्यममरेश्वर मन्ये।
नीरसं तदखिलं भवदङ्घ्रिस्पर्शनामृतरसेन विहीनम्॥ 23॥

बत नाथ दृढोऽयमात्मबन्धो भवदख्यातिमयस्त्वयैव क्लृप्तः।
यदयं प्रथमानमेव मे त्वामवधीर्य श्लथते न लेशतोऽपि॥ 24॥

महताममरेश पूज्यमानोऽप्यनिशं तिष्ठसि पूजकैकरूपः।
बहिरन्तरपीह दृश्यमानः स्फुरसि द्रष्टृशरीर एव शश्वत्॥25॥

स्वबलनिदेशनाख्यं पञ्चमं स्तोत्रम्

त्वत्पादपद्मसम्पर्कमात्रसम्भोगसङ्गिनम्।
गलेपादिकया नाथ मां स्ववेश्म प्रवेशय॥ 1॥

भवत्पादाम्बुजरजोराजिरञ्जितमूर्धजः।
अपाररभसारब्धनर्तनः स्यामहं कदा॥ 2॥

त्वदेकनाथो भगवन्नियदेवार्थये सदा।
त्वदन्तर्वसतिर्मूको भवेयं मान्यथा बुधः॥ 3॥

अहो सुधानिधे स्वामिन् अहो मृष्ट त्रिलोचन।
अहो स्वादो विरूपाक्षेत्येव नृत्येयमारटन्॥ 4॥

त्वत्पादपद्मसंस्पर्शपरिमीलितलोचनः।
विजृम्भेय भवद्भक्तिमदिरामदघूर्णितः॥ 5॥

चित्तभूभृद्भुवि विभो वसेयं क्वापि यत्र सा।
निरन्तरत्वत्प्रलापमयी वृत्तिर्महारसा॥ 6॥

यत्र देवीसमेतस्त्वमासौधादा च गोपुरात्।
बहुरूपः स्थितस्तस्मिन्वास्तव्यः स्यामहं पुरे॥ 7॥

समुल्लसन्तु भगवन् भवद्भानुमरीचयः।
विकसत्वेष यावन्मे हृत्पद्मः पूजनाय ते॥ 8॥

प्रसीद भगवन् येन त्वत्पदे पतितं सदा।
मनो मे तत्तदास्वाद्य क्षीवेदिव गलेदिव॥ 9॥

प्रहर्षाद्वाथ शोकाद्वा यदि कुड्याद्घटादपि।
बाह्यादथान्तराद्भावात्प्रकटीभव मे प्रभो!॥ 10॥

बहिरप्यन्तरपि तत्स्यन्दमानं सदास्तु मे।
भवत्पादाम्बुजस्पर्शामृतमत्यन्तशीतलम्॥ 11॥

त्वत्पादसंस्पर्शसुधासरसोऽन्तर्निमज्जनम्।
कोऽप्येष सर्वसम्भोगलङ्घी भोगोऽस्तु मे सदा॥ 12॥

निवेदितमुपादत्स्व रागादि भगवन्मया।
आदाय चामृतीकृत्य भुङ्क्ष्व भक्तजनैः समम्॥ 13॥

अशेषभुवनाहारनित्यतृप्तः सुखासनम्।
स्वामिन् गृहाण दासेषु प्रसादालोकनक्षणम्॥ 14॥

अन्तर्भक्तिचमत्कारचर्वणामीलितेक्षणः।
नमो मह्यं शिवायेति पूजयन् स्यां तृणान्यपि॥ 15॥

अपि लब्धभवद्भावः स्वात्मोल्लासमयं जगत्।
पश्यन् भक्तिरसाभोगैर्भवेयमवियोजितः॥ 16॥

आकाङ्क्षणीयमपरं येन नाथ न विद्यते।
तव तेनाद्वितीयस्य युक्तं यत्परिपूर्णता॥ 17॥

हस्यते नृत्यते यत्र रागद्वेषादि भुज्यते।
पीयते भक्तिपीयूषरसस्तत्प्राप्नुयां पदम्॥ 18॥

तत्तदपूर्वामोदत्वच्चिन्ताकुसुमवासना दृढताम्।
एतु मम मनसि यावन्नश्यतु दुर्वासनागन्धः॥ 19॥

क्व नु रागादिषु रागः क्व च हरचरणाम्बुजेषु रागित्वम्।
इत्थं विरोधरसिकं बोधय हितममर मे हृदयम्॥ 20॥

विचरन्योगदशास्वपि विषयव्यावृत्तिवर्तमानोऽपि।
त्वच्चिन्तामदिरामदतरलीकृतहृदय एव स्याम्॥ 21॥

वाचि मनोमतिषु तथा शरीरचेष्टासु करणरचितासु।
सर्वत्र सर्वदा मे पुरःसरो भवतु भक्तिरसः॥ 22॥

शिवशिवशिवेति नामनि तव निरवधि नाथ जप्यमानेऽस्मिन्।
आस्वादयन् भवेयं कमपि महारसमपुनरुक्तम्॥ 23॥

स्फुरदनन्तचिदात्मकविष्टपे परिनिपीतसमस्तजडाध्वनि।
अगणितापरचिन्मयगण्डिके प्रविचरेयमहं भवतोऽर्चिता॥ 24॥

स्ववपुषि स्फुटभासिनि शाश्वते स्थितिकृते न किमप्युपयुज्यते।
इति मतिः सुदृढा भवतात् परं मम भवच्चरणाब्जरजः शुचेः॥ 25॥

किमपि नाथ कदाचन चेतसि स्फुरति तद्भवदंघ्रितलस्पृशाम्।
गलति यत्र समस्तमिदं सुधासरसि विश्वमिदं दिश मे सदा॥ 26॥

अध्वविस्फुरणाख्यं षष्ठं स्तोत्रम्

क्षणमात्रमपीशान वियुक्तस्य त्वया मम।
निबिडं तप्यमानस्य सदा भूया दृशः पदम्॥ 1॥

वियोगसारे संसारे प्रियेण प्रभुणा त्वया।
अवियुक्तः सदैव स्यां जगतापि वियोजितः॥ 2॥

कायवाङ्मनसैर्यत्र यामि सर्वं त्वमेव तत्।
इत्येष परमार्थोऽपि परिपूर्णोऽस्तु मे सदा॥ 3॥

निर्विकल्पो महानन्दपूर्णो यद्वद्भवांस्तथा।
भवत्स्तुतिकरी भूयादनुरूपैव वाङ्मम॥ 4॥

भवदावेशतः पश्यन् भावं भावं भवत्मयम्।
विचरेयं निराकाङ्क्षः प्रहर्षपरिपूरितः॥ 5॥

भगवन्भवतः पूर्णं पश्येयमखिलं जगत्।
तावतैवास्मि सन्तुष्टस्ततो न परिखिद्यसे॥ 6॥

विलीयमानास्त्वय्येव व्योम्नि मेघलवा इव।
भावा विभान्तु मे शश्वत्क्रमनैर्मल्यगामिनः॥ 7॥

स्वप्रभाप्रसरध्वस्तापर्यन्तध्वान्तसन्ततिः।
सन्ततं भातु मे कोऽपि भवमध्याद्भवन्मणिः॥ 8॥

कां भूमिकां नाधिशेषे किं तत्स्याद्यन्न ते वपुः।
श्रान्तस्तेनाप्रयासेन सर्वतस्त्वामवाप्नुयाम्॥ 9॥

भवदङ्गपरिष्वङ्गसम्भोगः स्वेच्छयैव मे।
घटतामियति प्राप्ते किं नाथ न जितं मया॥ 10॥

प्रकटीभव नान्याभिः प्रार्थनाभिः कदर्थनाः।
कुर्मस्ते नाथ ताम्यन्तस्त्वामेव मृगयामहे॥ 11॥

विधुरविजयाख्यं सप्तमं स्तोत्रम्

त्वय्यानन्दसरस्वति समरसतामेत्य नाथ मम चेतः।
परिहरतु सकृदियन्तं भेदाधीनं महानर्थम्॥ 1॥

एतन्मम न त्विदमिति रागद्वेषादिनिगडदृढमूले।
नाथ भवन्मयतैक्यप्रत्ययपरशुः पतत्वन्तः॥ 2॥

गलतु विकल्पकलङ्कावली समुल्लसतु हृदि निरर्गलता।
भगवन्नानन्दरसप्लुतास्तु मे चिन्मयी मूर्तिः॥ 3॥

रागादिमयभवाण्डकलुठितं त्वद्भक्तिभावनाम्बिका तैस्तैः।
आप्यायतु रसैर्मां प्रवृद्धपक्षो यथा भवामि खगः॥ 4॥

त्वच्चरणभावनामृतरससारास्वादनैपुणं लभताम्।
चित्तमिदं निःशेषितविषयविषासङ्गवासनावधि मे॥ 5॥

त्वद्भक्तितपनदीधितिसंस्पर्शवशान्ममैष दूरतरम्।
चेतोमणिर्विमुञ्चतु रागादिकतप्तवह्निकणान्॥ 6॥

तस्मिन्पदे भवन्तं सततमुपश्लोकयेयमत्युच्चैः।
हरिहर्यश्वविरिञ्चा अपि यत्र बहिः प्रतीक्षन्ते॥ 7॥

भक्तिमदजनितविभ्रमवशेन पश्येयमविकलं करणैः।
शिवमयमखिलं लोकं क्रियाश्च पूजामयी सकलाः॥ 8॥

मामकमनोगृहीतत्वद्भक्तिकुलाङ्गनाणिमादिसुतान्।
सूत्वा सुबद्धमूला ममेति बुद्धिं दृढीकुरुताम्॥ 9॥

अलौकिकोद्दलनाख्यम् अष्टमं स्तोत्रम्

यः प्रसादलव ईश्वरस्थितो या च भक्तिरिव मामुपेयुषी।
तौ परस्परसमन्वितौ कदा तादृशे वपुषि रूढिमेष्यतः॥ 1॥

त्वत्प्रभुत्वपरिचर्वणजन्मा कोऽप्युदेतु परितोषरसोऽन्तः।
सर्वकालमिह मे परमस्तु ज्ञानयोगमहिमादि विदूरे॥ 2॥

लोकवद्भवतु मे विषयेषु स्फीत एव भगवन्परितर्षः।
केवलं तव शरीरतयैतान् लोकयेयमहमस्तविकल्पः॥ 3॥

देहभूमिषु तथा मनसि त्वं प्राणवर्त्मनि च भेदमुपेते।
संविदः पथिषु तेषु च तेन स्वात्मना मम भव स्फुटरूपः॥ 4॥

निजनिजेषु पदेषु पतन्त्विमाः करणवृत्तय उल्लसिता मम।
क्षणमपीश मनागपि मैव भूत् त्वदविभेदरसक्षतिसाहसम्॥ 5॥

लघुमसृणसिताच्छशीतलं भवदावेशवशेन भावयन्।
वपुरखिलपदार्थपद्धतेर्व्यवहारानतिवर्तयेय तान्॥ 6॥

विकसतु स्ववपुर्भवदात्मकं समुपयान्तु जगन्ति ममाङ्गताम्।
व्रजतु सर्वमिदं द्वयवल्गितं स्मृतिपथोपगमेऽप्यनुपाख्यताम्॥ 7॥

समुदियादपि तादृशतावकाननविलोकपरामृतसम्प्लवः।
मम घटेत यथा भवदद्वयाप्रथनघोरदरीपरिपूरणम्॥ 8॥

अपि कदाचन तावकसङ्गमामृतकणाच्छुरणेन तनीयसा।
सकललोकसुखेषु पराङ्मुखो न भवितास्म्युभयच्युत एव किम्॥9॥

सततमेव भवच्चरणाम्बुजाकरचरस्य हि हंसवरस्य मे।
उपरि मूलतलादपि चान्तरादुपनमत्वज भक्तिमृणालिका॥ 10॥

उपयान्तु विभो समस्तवस्तून्यपि चिन्ताविषयं दृशः पदं च।
मम दर्शनचिन्तनप्रकाशामृतसाराणि परं परिस्फुरन्तु॥ 11॥

परमेश्वर तेषु तेषु कृच्छ्रेष्वपि नामोपनमत्स्वहं भवेयम्।
न परं गतभीस्त्वदङ्गसङ्गादुपजाताधिकसम्मदोऽपि यावत्॥12॥

भवदात्मनि विश्वमुम्भितं यद् भवतैवापि बहिः प्रकाश्यते तत्।
इति यद्दृढनिश्चयोपजुष्टं तदिदानीं स्फुटमेव भासताम्॥ 13॥

स्वातन्त्र्यविजयाख्यं नवमं स्तोत्रम्

कदा नवरसार्द्रार्द्रसम्भोगास्वादनोत्सुकम्।
प्रवर्तेत विहायान्यन् मम त्वत्स्पर्शने मनः॥ 1॥

त्वदेकरक्तस्त्वत्पादपूजामात्रमहाधनः।
कदा साक्षात्करिष्यामि भवन्तमयमुत्सुकः॥ 2॥

गाढानुरागवशतो निरपेक्षीभूतमानसोऽस्मि कदा।
पटपटिति विघटिताखिलमहार्गलस्त्वामुपैष्यामि॥ 3॥

स्वसंवित्सारहृदयाधिष्ठानाः सर्वदेवताः।
कदा नाथ वशीकुर्यां भवद्भक्तिप्रभावतः॥ 4॥

कदा मे स्याद्विभो भूरि भक्त्यानन्दरसोत्सवः।
यदालोकसुखानन्दी पृथङ्नामापि लप्स्यते॥ 5॥

ईश्वरमभयमुदारं पूर्णमकारणमपह्नुतात्मानम्।
सहसाभिज्ञाय कदा स्वामिजनं लज्जयिष्यामि॥ 6॥

कदा कामपि तां नाथ तव वल्लभतामियाम्।
यया मां प्रति न क्वापि युक्तं ते स्यात्पलायितुम्॥ 7॥

तत्त्वतोऽशेषजन्तूनां भवत्पूजामयात्मनाम्।
दृष्ट्यानुमोदितरसाप्लावितः स्यां कदा विभो!॥ 8॥

ज्ञानस्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा।
त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि पूर्णा मे स्यात्तदर्थिता॥ 9॥

सहसैवासाद्य कदा गाढमवष्टभ्य हर्षविवशोऽहम्।
त्वच्चरणवरनिधानं सर्वस्य प्रकटयिष्यामि॥ 10॥

परितः प्रसरच्छुद्धत्वदालोकमयः कदा।
स्यां यथेश न किञ्चिन्मे मायाच्छायाबिलं भवेत्॥ 11॥

आत्मसात्कृतनि:शेषमण्डलो निर्व्यपेक्षक:।
कदा भवेयं भगवंस्त्वद्भक्तगणनायक:॥ 12॥

नाथ लोकाभिमानानामपूर्वं त्वं निबन्धनम्।
महाभिमान: कर्हि स्यां त्वद्भक्तिरसपूरित:॥ 13॥

अशेषविषयाशून्यश्रीसमाश्लेषसुस्थित:।
शयीयमिव शीताङ्घ्रिकुशेशययुगे कदा॥ 14॥

भक्त्यासवसमृद्धायास्त्वत्पूजाभोगसम्पद:।
कदा पारं गमिष्यामि भविष्यामि कदा कृती॥ 15॥

आनन्दबाष्पपूरस्खलितपरिभ्रान्तगद्गदाक्रन्द:।
हासोल्लासितवदनस्त्वत्स्पर्शरसं कदाप्स्यामि॥ 16॥

पशुजनसमानवृत्तामवधूय दशामिमां कदा शम्भो!
आस्वादयेय तावकभक्तोचितमात्मनो रूपम्॥ 17॥

लब्धाणिमादिसिद्धिर्विगलितसकलोपतापसन्त्रास:।
त्वद्भक्तिरसायनपानक्रीडानिष्ठ: कदासीय॥ 18॥

नाथ कदा स तथाविध आक्रन्दो मे समुच्चरेद् वाचि।
यत्समनन्तरमेव स्फुरति पुरस्तावकी मूर्ति:॥ 19॥

गाढगाढभवदङ्घ्रिसरोजालिङ्गनव्यसनतत्परचेता:।
वस्त्ववस्त्विदमयत्नत एव त्वां कदा समवलोकयितास्मि॥ 20॥

अविच्छेदभङ्गाख्यं दशमं स्तोत्रम्

स सोढव्यमवश्यं ते जगदेकप्रभोरिदम्।
माहेश्वराश्च लोकानामितरेषां समाश्च यत्॥ 1॥

ये सदैवानुरागेण भवत्पादानुगामिनः।
यत्र तत्र गता भोगांस्ते कांश्चिदुपभुञ्जते॥ 2॥

भर्ता कालान्तको यत्र भवांस्तत्र कुतो रुजः।
तत्र चेतरभोगाशा का लक्ष्मीर्यत्र तावकी॥ 3॥

क्षणमात्रसुखेनापि विभुर्येनासि लभ्यसे।
तदैव सर्वः कालोऽस्य त्वदानन्देन पूर्यते॥ 4॥

आनन्दरसबिन्दुस्ते चन्द्रमा गलितो भुवि।
सूर्यस्तथा ते प्रसृतः संहारी तेजसः कणः॥ 5॥

बलिं यामस्तृतीयाय नेत्रायास्मै तव प्रभो!
अलौकिकस्य कस्यापि माहात्म्यस्यैकलक्ष्मणे॥ 6॥

तेनैव दृष्टोऽसि भवद्दर्शनाद्योऽतिहृष्यति।
कथञ्चिद्यस्य वा हर्षः कोऽपि तेन त्वमीक्षितः॥ 7॥

येषां प्रसन्नोऽसि विभो यैर्लब्धं हृदयं तव।
आकृष्य त्वत्पुरात्तैस्तु बाह्यमाभ्यन्तरीकृतम्॥ 8॥

त्वदृते निखिलं विश्वं समदृग्यातमीक्ष्यताम्।
ईश्वरः पुनरेतस्य त्वमेको विषमेक्षणः॥ 9॥

आस्तां भवत्प्रभावेण विना सत्तैव नास्ति यत्।
त्वद्दूषणकथा येषां त्वदृते नोपपद्यते॥ 10॥

बाह्यान्तरान्तरायालीकेवले चेतसि स्थितिः।
त्वयि चेत्स्यान्मम विभो किमन्यदुपयुज्यते॥ 11॥

अन्ये भ्रमन्ति भगवन्नात्मन्येवातिदु:स्थिता:।
अन्ये भ्रमन्ति भगवन्नात्मन्येवातिसुस्थिता:।। 12।।

अपीत्वापि भवद्भक्तिसुधामनवलोक्य च।
त्वामीश त्वत्समाचारमात्रात्सिद्ध्यन्ति जन्तव:।। 13।।

भृत्या वयं तव विभो तेन त्रिजगतां यथा।
बिभर्ष्यात्मानमेवं ते भर्त्तव्या वयमप्यलम्।। 14।।

परानन्दामृतमये दृष्टेऽपि जगदात्मनि।
त्वयि स्पर्शरसेऽत्यन्ततरमुत्कण्ठितोऽस्मि ते।। 15।।

देव दु:खान्यशेषाणि यानि संसारिणामपि।
धृत्याख्यभवदीयात्मयुतान्यायान्ति सह्यताम्।। 16।।

सर्वज्ञे सर्वशक्तौ च त्वय्येव सति चिन्मये।
सर्वथाप्यसतो नाथ युक्तास्य जगत: प्रथा।। 17।।

त्वत्प्राणिता: स्फुरन्तीमे गुणा लोष्टोपमा अपि।
नृत्यन्ति पवनोद्धूता: कार्पासपिचवो यथा।। 18।।

यदि नाथ गुणेष्वात्माभिमानो न भवेत्तत:।
केन हीयेत जगतस्त्वदेकात्मतया प्रथा।। 19।।

वन्द्यास्तेऽपि महीयांस: प्रलयोपगता अपि।
त्वत्कोपपावकस्पर्शपूता ये परमेश्वर।। 20।।

महाप्रकाशवपुषि विस्पष्टे भवति स्थिते।
सर्वतोऽपीश तत्कस्मात्तमसि प्रसराम्यहम्।। 21।।

अविभागो भवानेव स्वरूपममृतं मम।
तथापि मर्त्यधर्माणामहमेवैकमास्पदम्।। 22।।

महेश्वरेति यस्यास्ति नामकं वाग्विभूषणम्।
प्रणामाङ्कश्च शिरसि स एवैक: प्रभावित:।। 23।।

सदसच्च भवानेव येन तेनाप्रयासत:।
स्वरसेनैव भगवंस्तथा सिद्धि: कथं न मे।। 24।।

शिवदासः शिवैकात्मा किं यन्नासादयेत्सुखम्।
तर्प्योऽस्मि देवमुख्यानामपि येनामृतासवैः॥ 25॥

हृन्नाभ्योरन्तरालस्थः प्राणिनां पित्तविग्रहः।
ग्रससे त्वं महावह्निः सर्वं स्थावरजङ्गमम्॥ 26॥

औत्सुक्यविश्वसिताख्यम् एकादशं स्तोत्रम्

जगदिदमथ वा सुहृदो बन्धुजनो वा न भवति मम किमपि।
त्वं पुनरेतत्सर्वं यदा तदा कोऽपरो मेऽस्तु॥ 1॥

स्वामिन्महेश्वरस्त्वं साक्षात्सर्वं जगत्त्वमेवेति।
वस्त्वेव सिद्धिमेत्विति याञ्चा तत्रापि याञ्चैव॥ 2॥

त्रिभुवनाधिपतित्वमपीह यत्तृणमिव प्रतिभाति भवज्जुषः।
किमिव तस्य फलं शुभकर्मणो भवति नाथ भवत्स्मरणादृते॥ 3॥

येन नैव भवतोऽस्ति विभिन्नं किञ्चनापि जगतां प्रभवश्च।
त्वद्विजृम्भितमतोऽद्भुतकर्मस्वप्युदेति न तव स्तुतिबन्धः॥ 4॥

त्वन्मयोऽस्मि भवदर्चननिष्ठः सर्वदाहमिति चाप्यविरामम्।
भावयन्नपि विभो स्वरसेन स्वप्नगोऽपि न तथा किमिव स्याम् ॥5॥

येन मनागपि भवच्चरणाब्जोद्भूतसौरभलवेन विमृष्टाः।
तेषु विस्त्रमिव भाति समस्तं भोगजातममरैरपि मृग्यम्॥ 6॥

हृदि ते न तु विद्यतेऽन्यदन्यद्वचने कर्मणि चान्यदेव शंभो!
परमार्थसतोऽप्यनुग्रहो वा यदि वा निग्रह एक एव कार्यः॥7॥

मूढोऽस्मि दुःखकलितोऽस्मि जरादि दोष-
भीतोऽस्मि शक्तिरहितोऽस्मि तवाश्रितोऽस्मि।
शम्भो तथा कलय शीघ्रमुपैमि येन
सर्वोत्तमां धुरमपोज्झितदुःखमार्गः॥ 8॥

त्वत्कर्णदेशमधिशय्य महार्घभाव-
माक्रन्दितानि मम तुच्छतराणि यान्ति।
वंशान्तरालपतितानि जलैकदेश-
खण्डानि मौक्तिकमणित्वमिवोद्वहन्ति॥ 9॥

किमिव च लभ्यते बत न तैरपि नाथ जनैः।
क्षणमपि कैतवादपि च ये तव नाम्नि रताः।
शिशिरमयूखशेखर तथा कुरु येन मम
क्षतमरणोऽणिमादिकमुपैमि यथा विभवम्॥ 10॥

शम्भो शर्व शशाङ्कशेखर शिव त्र्यक्षाक्षमालाधर
श्रीमन्नुग्रकपाललाञ्छन लसद्भीमत्रिशूलायुध।
कारुण्याम्बुनिधे त्रिलोकरचनाशीलोग्रशक्त्यात्मक
श्रीकण्ठाशु विनाशयाशुभभरानाधत्स्व सिद्धिं पराम्॥ 11॥

तत्किं नाथ भवेन्न यत्र भगवान्निर्मातृतामश्नुते
भावः स्यात्किमु तस्य चेतनवतो नाशास्ति यं शङ्करः।
इत्थं ते परमेश्वराक्षतमहाशक्तेः सदा संश्रितः
संसारेऽत्र निरन्तराधिविधुरः क्लिश्याम्यहं केवलम्॥ 12॥

यद्यप्यत्र वरप्रदोद्धततमाः पीडाजरामृत्यवः
एते वा क्षणमासतां बहुमतः शब्दादिरेवास्थिरः।
तत्रापि स्पृहयामि सन्ततसुखाकाङ्क्षी चिरं स्थास्नवे
भोगास्वादयुतत्वदङ्घ्रिकमलध्यानाग्र्यजीवातवे॥ 13॥

हे नाथ प्रणतार्तिनाशनपटो श्रेयोनिधे धूर्जटे
दुःखैकायतनस्य जन्ममरणत्रस्तस्य मे साम्प्रतम्।
तच्चेष्टस्व यथा मनोज्ञविषयास्वादप्रदा उत्तमाः
जीवन्नेव समश्नुवेऽहमचलाः सिद्धीस्त्वदर्चापरः॥ 14॥

नमो मोहमहाध्वान्तध्वंसनानन्यकर्मणे।
सर्वप्रकाशातिशय प्रकाशायेन्दुलक्ष्मणे॥ 15॥

रहस्यनिर्देशाख्यं द्वादशं स्तोत्रम्

सहकारि न किञ्चिदिष्यते भवतो न प्रतिबन्धकं दृशि।
भवतैव हि सर्वमाप्लुतं कथमद्यापि तथापि नेक्षसे॥ 1॥

अपि भावगणादपीन्द्रियप्रचयादप्यवबोधमध्यतः।
प्रभवन्तमपि स्वतः सदा परिपश्येयमपोढविश्वकम्॥ 2॥

कथं ते जायेरन्कथमपि च ते दर्शनपथं
व्रजेयुः केनापि प्रकृतिमहताङ्केन खचितः।
तथोत्थायोत्थाय स्थलजलतृणादेरखिलतः
पदार्थाद्यान्सृष्टिस्त्रवदमृतपूरैर्विकिरसि॥ 3॥

साक्षात्कृतभवद्रूपप्रसृतामृततर्पिताः।
उन्मूलिततृषो मत्ता विचरन्ति यथारुचि॥ 4॥

न तदा न सदा न चैकदेत्यपि सा यत्र न कालधीर्भवेत्।
तदिदं भवदीयदर्शनं न च नित्यं न च कथ्यतेऽन्यथा॥ 5॥

त्वद्विलोकनसमुत्कचेतसो योगसिद्धिरियती सदास्तु मे।
यद्विशेयमभिसन्धिमात्रतस्त्वत्सुधासदनमर्चनाय ते॥ 6॥

निर्विकल्पभवदीयदर्शनप्राप्तिफुल्लमनसां महात्मनाम्।
उल्लसन्ति विमलानि हेलया चेष्टितानि च वचांसि च स्फुटम्॥ 7॥

भगवन्भवदीयपादयोर्निवसन्नन्तर एव निर्भयः।
भवभूमिषु तासु तास्वहं प्रभुमर्चेयमनर्गलक्रियः॥ 8॥

भवदङ्‌घ्रिसरोरुहोदरे परिलीनो गलितापरैषणः।
अतिमात्रमधूपयोगतः परितृप्तो विचरेयमिच्छया॥ 9॥

यस्य दम्भादिव भवत्पूजासङ्कल्प उत्थितः।
तस्याप्यवश्यमुदितं सन्निधानं तवोचितम्॥ 10॥

भगवन्नितरानपेक्षिणा नितरामेकरसेन चेतसा।
सुलभं सकलोपशायिनं प्रभुमातृप्ति पिबेयमस्मि किम्॥ 11॥

त्वया निराकृतं सर्वं हेयमेतत्तदेव तु।
त्वन्मयं समुपादेयमित्ययं सारसंग्रहः॥ 12॥

भवतोऽन्तरचारिभावजातं प्रभुवन्मुख्यतयैव पूजितं तत्।
भवतो बहिरप्यभावमात्रा कथमीशान भवेत्समर्च्यते वा॥ 13॥

निःशब्दं निर्विकल्पं च निर्व्याक्षेपमथानिशम्।
क्षोभेऽप्यध्यक्षमीक्षेयं त्र्यक्ष त्वामेव सर्वतः॥ 14॥

प्रकटय निजधाम देव यस्मिंस्त्वमसि सदा परमेश्वरीसमेतः।
प्रभुचरणरजःसमानकक्ष्याः किमविश्वासपदं भवन्ति भृत्याः॥ 15॥

दर्शनपथमुपयातोऽप्यपसरसि कुतो ममेश भृत्यस्य।
क्षणमात्रकमिह न भवसि कस्य न जन्तोर्दृशोर्विषयः॥ 16॥

ऐक्यसंविदमृताच्छधारया सन्ततप्रसृतया कदा विभो!
प्लावनात् परमभेदमानयंस्त्वां निजं च वपुराप्नुयां मुदम्॥ 17॥

अहमित्यमुतोऽवरुद्धलोकाद्भवदीयात्प्रतिपत्तिसारतो मे।
अणुमात्रकमेव विश्वनिष्ठं घटतां येन भवेयमर्चिता ते॥ 18॥

अपरिमितरूपमहं तं तं भावं प्रतिक्षणं पश्यन्।
त्वामेव विश्वरूपं निजनाथं साधु पश्येयम्॥ 19॥

भवदङ्गगतं तमेव कस्मान्न मनः पर्यटतीष्टमर्थमर्थम्।
प्रकृतिक्षतिरस्ति नो तथास्य मम चेच्छा परिपूर्यते परैव॥ 20॥

शतशः किल ते तवानुभावाद्भगवन्केऽप्यमुनैव चक्षुषा ये।
अपि हालिकचेष्टया चरन्तः परिपश्यन्ति भवद्वपुः सदाग्रे॥ 21॥

न सा मतिरुदेति या न भवति त्वदिच्छामयी
सदा शुभमथेतरद्भगवतैवमाचर्यते।
अतोऽस्मि भवदात्मको भुवो यथा तथा सञ्चरन्
स्थितोऽनिशमबाधितत्वदमलाङ्घ्रिपूजोत्सवः॥ 22॥

भवदीयगभीरभाषितेषु प्रतिभा सम्यगुदेतु मे पुरोऽतः।
तदनुष्ठितशक्तिरप्यतस्तद्भवदर्चाव्यसनं च निर्विरामम्॥ 23॥

व्यवहारपदेऽपि सर्वदा प्रतिभात्वर्थकलाप एष माम्।
भवतोऽवयवो यथा न तु स्वत एवादरणीयतां गतः॥ 24॥

मनसि स्वरसेन यत्र तत्र प्रचरत्यप्यहमस्य गोचरेषु।
प्रसृतोऽप्यविलोल एव युष्मत्परिचर्याचतुरः सदा भवेयम्॥ 25॥

भगवन्भवदिच्छयैव दासस्तव जातोऽस्मि परस्य नात्र शक्तिः।
कथमेष तथापि वक्त्रबिम्बं तव पश्यामि न जातु चित्रमेतत्॥ 26॥

समुत्सुकास्त्वां प्रति ये भवन्तं
प्रत्यर्थरूपादवलोकयन्ति।
तेषामहो किं तदुपस्थितं स्यात् किं
साधनं वा फलितं भवेत्तत्॥ 27॥

भावा भावतया सन्तु भवद्भावेन मे भव।
तथा न किञ्चिदप्यस्तु न किञ्चिद्भवतोऽन्यथा॥ 28॥

यन्न किञ्चिदपि तन्न किञ्चिदप्यस्तु किञ्चिदपि किञ्चिदेव मे।
सर्वथा भवतु तावता भवान् सर्वतो भवति लब्धपूजितः॥ 29॥

संग्रहस्तोत्राख्यं त्रयोदशं स्तोत्रम्

संग्रहेण सुखदु:खलक्षणं मां प्रति स्थितमिदं शृणु प्रभो!
सौख्यमेष भवता समागमः स्वामिना विरह एव दु:खिता॥ 1॥

अन्तरप्यतितरामणीयसी या त्वदप्रथनकालिकास्ति मे
तामपीश परिमृज्य सर्वतः स्वं स्वरूपममलं प्रकाशय॥ 2॥

तावके वपुषि विश्वनिर्भरे चित्सुधारसमये निरत्यये।
तिष्ठतः सततमर्चतः प्रभुं जीवितं मृतमथान्यदस्तु मे॥ 3॥

ईश्वरोऽहमहमेव रूपवान् पण्डितोऽस्मि सुभगोऽस्मि कोऽपरः।
मत्समोऽस्ति जगतीति शोभते मानिता त्वदनुरागिणः परम्॥ 4॥

देवदेव भवदद्वयामृताख्यातिसंहरणलब्धजन्मना।
तद्यथास्थितपदार्थसंविदा मां कुरुष्व चरणार्चनोचितम्॥ 5॥

ध्यायते तदनु दृश्यते ततः स्पृश्यते च परमेश्वरः स्वयम्।
यत्र पूजनमहोत्सवः स मे सर्वदास्तु भवतोऽनुभावतः॥ 6॥

यद्यथास्थितपदार्थदर्शनं युष्मदर्चनमहोत्सवश्च यः।
युग्ममेतदितरेतराश्रयं भक्तिशालिषु सदा विजृम्भते॥ 7॥

तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं युष्मदर्चनरसायनासवम्।
सर्वभावचषकेषु पूरितेष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः॥ 8॥

अन्यवेद्यमणुमात्रमस्ति न स्वप्रकाशमखिलं विजृम्भते।
यत्र नाथ भवतः पुरे स्थिति तत्र मे कुरु सदा तवार्चितुः॥ 9॥

दासधाम्नि विनियोजितोऽप्यहं स्वेच्छयैव परमेश्वर त्वया।
दर्शनेन न किमस्मि पात्रितः पादसंवहनकर्मणापि वा॥ 10॥

शक्तिपातसमये विचारणं प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित्।
अद्य मां प्रति किमागतं यतः स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे॥ 11॥

तत्र तत्र विषये बहिर्विभात्यन्तरे च परमेश्वरीयुतम्।
त्वां जगत्त्रितयनिर्भरं सदा लोकयेय निजपाणिपूजितम्॥ 12॥

स्वामिसौधमभिसन्धिमात्रतो निर्विबन्धमधिरुह्य सर्वदा।
स्यां प्रसादपरमामृतासवापानकेलिपरिलब्धनिर्वृतिः॥ 13॥

यत्समस्तसुभगार्थवस्तुषु स्पर्शमात्रविधिना चमत्कृतिम्।
तां समर्पयति तेन ते वपुः पूजयन्त्यचलभक्तिशालिनः॥ 14॥

स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन् विश्वमामृशसि रूपमामृशन्।
यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे तत्समुल्लसति भावमण्डलम्॥ 15॥

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश निखिलं भवद्वपुः।
स्वात्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम्॥ 16॥

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि रोचते न मे॥ 17॥

त्वत्प्रलापमयरक्तगीतिकानित्ययुक्तवदनोपशोभितः।
स्यामथापि भवदर्चनक्रियाप्रेयसीपरिगताशयः सदा॥ 18॥

ईहितं न बत पारमेश्वरं शक्यते गणयितुं तथा च मे।
दत्तमप्यमृतनिर्भरं वपुः स्वं न पातुमनुमन्यते तथा॥ 19॥

त्वामगाधमविकल्पमद्वयं स्वं स्वरूपमखिलार्थघस्मरम्।
आविशन्नहमुमेश सर्वदा पूजयेयमभिसंस्तुवीय च॥ 20॥

जयस्तोत्राख्यं चतुर्दशं स्तोत्रम्

ॐ जयलक्ष्मीनिधानस्य निजस्य स्वामिनः पुरः।
जयोद्घोषणपीयूषरससमास्वादये क्षणम्॥ 1॥

जयैकरुद्रैकशिव महादेव महेश्वर।
पार्वती प्रणयिञ्शर्व सर्वगीर्वाण पूर्वज॥ 2॥

जय त्रैलोक्यनाथैक लाञ्छनालिकलोचन।
जय पीतार्तलोकार्ति कालकूटाङ्ककन्धर॥ 3॥

जय मूर्त त्रिशक्त्यात्मसितशूलोल्लसत्कर।
जयेच्छामात्रसिद्धार्थ पूजार्ह चरणाम्बुज॥ 4॥

जय शोभाशतस्यन्दि लोकोत्तरवपुर्धर।
जयैकजटिकाक्षीणगङ्गाकृत्यात्तभस्मक॥ 5॥

जय क्षीरोदपर्यस्तज्योत्स्नाच्छायाऽनुलेपन।
जयेश्वराङ्गसङ्गोत्थरत्नकान्ताहिमण्डन॥ 6॥

जयाक्षयैकशीतांशुकलासदृशसंश्रय।
जयगङ्गासदारब्धविश्वैश्वर्याभिषेचन॥ 7॥

जयाधराङ्गसंस्पर्शपावनीकृतगोकुल।
जय भक्तिमदाबद्ध गोष्ठी नियतसन्निधे॥ 8॥

जय स्वेच्छातपोवेशविप्रलम्भितबालिश।
जय गौरीपरिष्वङ्ग योग्यसौभाग्यभाजन॥ 9॥

जय भक्तिरसार्द्रार्द्रभावोपायनलम्पट।
जय भक्तिमदोद्दाम भक्तवाङ्नृत्ततोषित॥ 10॥

जय ब्रह्मादिदेवेशप्रभावप्रभवव्यय।
जयलोकेश्वरश्रेणी शिरोविधृतशासन॥ 11॥

जय सर्वजगन्न्यस्तस्वमुद्राव्यक्तवैभव।
जयात्मदानपर्यन्तविश्वेश्वरमहेश्वर॥ 12॥

जय त्रैलोक्यसर्गेच्छावसरासद्द्वितीयक।
जयैश्वर्यभरोद्वाहदेवीमात्रसहायक॥ 13॥

जयाक्रमसमाक्रान्तसमस्तभुवनत्रय।
जयाविगीतमाबालगीयमानेश्वरध्वने॥ 14॥

जयानुकम्पादिगुणानपेक्षसहजोन्नते।
जय भीष्ममहामृत्युघटनापूर्वभैरव॥ 15॥

जय विश्वक्षयोच्चण्डक्रियानिष्परिपन्थिक।
जय श्रेय:शतगुणानुगनामानुकीर्तन॥ 16॥

जय हेलावितीर्णैतदमृताकरसागर।
जय विश्वक्षयाक्षेपिक्षणकोपाशुशुक्षणे॥ 17॥

जय मोहान्धकारान्धजीवलोकैकदीपक।
जय प्रसुप्तजगतीजागरूकाधिपूरुष॥ 18॥

जय देहाद्रिकुञ्जान्तर्निकूजज्जीवजीवक।
जय सन्मानस व्योम विलासि वर सारस॥ 19॥

जय जाम्बूनदोदग्रधातूद्भवगिरीश्वर।
जय पापिषु निन्दोल्कापातनोत्पातचन्द्रम:॥ 20॥

जय कष्टतप:क्लिष्ट मुनिदेवदुरासद।
जय सर्वदशारूढभक्तिमल्लोकलोकित॥ 21॥

जय स्वसम्पतप्रसरपात्रीकृतनिजाश्रित।
जय प्रपन्नजनतालालनैकप्रयोजन॥ 22॥

जय सर्गस्थितिध्वंसकारणैकावदानक।
जय भक्तिमदालोललीलोत्पलमहोत्सव॥ 23॥

जय जयभाजन जय जितजन्म-
जरामरण जय जगज्ज्येष्ठ।
जय जय जय जय जय जय जय
जय जय जय जय जय जय त्र्यक्ष॥ 24॥

भक्तिस्तोत्राख्यं पञ्चदशं स्तोत्रम्

त्रिमलक्षालिनो ग्रन्थाः सन्ति तत्पारगास्तथा।
योगिनः पण्डिताः स्वस्थास्त्वद्भक्ता एव तत्त्वतः॥ 1॥

मायीयकालनियतिरागाद्याहारतर्पिताः।
चरन्ति सुखिनो नाथ भक्तिमन्तो जगत्तटे॥ 2॥

रुदन्तो वा हसन्तो वा त्वामुच्चैः प्रलपन्त्यमी।
भक्ताः स्तुतिपदोच्चारोपचाराः पृथगेव ते॥ 3॥

न विरक्तो न चापीशो मोक्षाकाङ्क्षी त्वदर्चकः।
भवेयमपि तूद्रिक्तभक्त्यासवरसोन्मदः॥ 4॥

बाह्यं हृदय एवान्तर अभिहृत्यैव योऽर्चति।
त्वामीश भक्तिपीयूष रसपूरैर्नमामि तम्॥ 5॥

धर्माधर्मात्मनोरन्तः क्रिययोर्ज्ञानयोस्तथा।
सुखदुःखात्मनोर्भक्ताः किमप्यास्वादयन्त्यहो॥ 6॥

चराचरपितः! स्वामिन्! अप्यन्धा अपि कुष्ठिनः।
शोभन्ते परमुद्दामभवद्भक्तिविभूषणाः॥ 7॥

शिलोञ्छ पिच्छ कशिपु विच्छायाङ्गा अपि प्रभो!
भवद्भक्तिमहोष्माणो राजराजमपीशते॥ 8॥

सुधार्द्रायां भवद्भक्तौ लुठताप्यारुरुक्षुणा।
चेतसैव विभोऽर्चन्ति केचित्त्वामभितः स्थिताः॥ 9॥

रक्षणीयं वर्धनीयं बहुमान्यमिदं प्रभो!
संसारदुर्गतिहरं भवद्भक्तिमहाधनम्॥ 10॥

नाथ ते भक्तजनता यद्यपि त्वयि रागिणी।
तथापीर्ष्यां विहायास्या तुष्टास्तु स्वामिनी सदा॥ 11॥

भवद्भावः पुरो भावी प्राप्ते त्वद्भक्तिसम्भवे।
लब्धे दुग्धमहाकुम्भे हता दधनि गृध्नुता॥ 12॥

किमियं न सिद्धिरतुला किं वा मुख्यं न सौख्यमास्रवति।
भक्तिरुपचीयमाना येयं शम्भोः सदातनी भवति॥ 13॥

मनसि मलिने मदीये मग्ना त्वद्भक्तिमणिलता कष्टम्।
न निजानपि तनुते तान् अपौरुषेयान् स्वसम्पदुल्लासान्॥ 14॥

भक्तिर्भगवति भवति त्रिलोकनाथे ननूत्तमा सिद्धिः।
किन्त्वणिमादिकविरहात् सैव न पूर्णेति चिन्ता मे॥ 15॥

बाह्यतोऽन्तरपि चोत्कटोन्मिषत्त्र्यम्बकस्तवकसौरभाः शुभाः।
वासयन्त्यपि विरुद्धवासनान् योगिनो निकटवासिनोऽखिलान्॥ 16॥

ज्योतिरस्ति कलयापि न किंचिद्विश्वमप्यतिसुषुप्तमशेषम्।
यत्र नाथ शिवरात्रिपदेऽस्मिन् नित्यमर्चयति भक्तजनस्त्वाम्॥ 17॥

सत्त्वं सत्यगुणे शिवे भगवति स्फारीभवत्वर्चने
चूडायां विलसन्तु शङ्करपद प्रोद्यद्रजःसञ्चयाः।
रागादिस्मृतिवासनामपि समुच्छेत्तुं तमो जृम्भतां
शम्भो मे भवतात्त्वदात्मविलये त्रैगुण्य वर्गोऽथवा॥ 18॥

संसाराध्वा सुदूरः खरतरविविधव्याधिदग्धाङ्गयष्टिः
भोगा नैवोपभुक्ता यदपि सुखमभूज्जातु तन्नो चिराय।
इत्थं व्यर्थोऽस्मि जातः शशिधरचरणाक्रान्तिकान्तोत्तमाङ्ग-
स्त्वद्भक्तश्चेति तन्मे कुरु सपदि महासम्पदो दीर्घदीर्घाः॥19॥

पाशानुद्भेदाख्यं षोडशं स्तोत्रम्

न किञ्चिदेव लोकानां भवदावरणं प्रति।
न किञ्चिदेव भक्तानां भवदावरणं प्रति॥ 1॥

अप्युपायक्रमप्राप्यः सङ्कुलोऽपि विशेषणैः।
भक्तिभाजां भवानात्मा सकृच्छुद्धोऽवभासते॥ 2॥

जयन्तोऽपि हसन्त्येते जिता अपि हसन्ति च।
भवद्भक्तिसुधापानमत्ताः केऽप्येव ये प्रभो!। 3॥

शुष्ककं मैव सिद्ध्येय मैव मुच्येय वापि तु।
स्वादिष्ठपरकाष्ठाप्तत्वद्भक्तिरसनिर्भरः॥ 4॥

यथैवाज्ञातपूर्वोऽयं भवद्भक्तिरसो मम।
घटितस्तद्वदीशान स एव परिपुष्यतु॥ 5॥

सत्येन भगवन्नान्यः प्रार्थनाप्रसरोऽस्ति मे।
केवलं स तथा कोऽपि भक्त्यावेशोऽस्तु मे सदा॥ 6॥

भक्तिक्षीवोऽपि कुप्येयं भवायानुशयीय च।
तथा हसेयं रुद्यां च रटेयं च शिवेत्यलम्॥ 7॥

विषमस्थोऽपि स्वस्थोऽपि रुदन्नपि हसन्नपि।
गम्भीरोऽपि विचित्तोऽपि भवेयं भक्तितः प्रभो!। 8॥

भक्तानां नास्ति संवेद्यं त्वदन्तर्यदि वा बहिः।
चिद्धर्मा यत्र न भवान्निर्विकल्पः स्थितः स्वयम्॥ 9॥

भक्ता निन्दानुकारेऽपि तवामृतकणैरिव।
हृष्यन्त्येवान्तराविद्धास्तीक्ष्णरोमाञ्चसूचिभिः॥ 10॥

दुःखापि वेदना भक्तिमतां भोगाय कल्पते।
येषां सुधार्द्रा सर्वैव संवित्त्वच्चन्द्रिकामयी॥ 11॥

यत्र तत्रोपरुद्धानां भक्तानां बहिरन्तरे।
निर्व्याजं त्वद्वपुः स्पर्शरसास्वादसुखं समम्।। 12।।

तवेश भक्तेरर्चायां दैन्यांशं द्वयसंश्रयम्।
विलुप्यास्वादयन्त्येके वपुरच्छं सुधामयम्।। 13।।

भ्रान्तास्तीर्थदृशो भिन्ना भ्रान्तेरेव हि भिन्नता।
निष्प्रतिद्वन्द्वि वस्त्वेकं भक्तानां त्वं तु राजसे।। 14।।

मानावमानरागादिनिष्पाकविमलं मनः।
यस्यासौ भक्तिमांल्लोकतुल्यशीलः कथं भवेत्।। 15।।

रागद्वेषान्धकारोऽपि येषां भक्तित्विषा जितः।
तेषां महीयसामग्रे कतमे ज्ञानशालिनः।। 16।।

यस्य भक्तिसुधास्नानपानादिविधिसाधनम्।
तस्य प्रारब्धमध्यान्तदशासूच्चैः सुखासिका।। 17।।

कीर्त्यश्चिन्तापदं मृग्यः पूज्यो येन त्वमेव तत्।
भवद्भक्तिमतां श्लाघ्या लोकयात्रा भवन्मयी।। 18।।

मुक्तिसंज्ञा विपक्वाया भक्तेरेव त्वयि प्रभो!
तस्यामाद्यदशारूढा मुक्तकल्पा वयं ततः।। 19।।

दुःखागमोऽपि भूयान्मे त्वद्भक्तिभरितात्मनः।
त्वत्पराची विभो मा भूदपि सौख्यपरम्परा।। 20।।

त्वं भक्त्या प्रीयसे भक्तिः प्रीते त्वयि च नाथ यत्।
तदन्योन्याश्रयं युक्तं यथा वेत्थ त्वमेव तत्।। 21।।

साकारो वा निराकारो वान्तर्वा बहिरेव वा।
भक्तिमत्तात्मनां नाथ सर्वथासि सुधामयः।। 22।।

अस्मिन्नेव जगत्यन्तर्भवद्भक्तिमतः प्रति।
हर्षप्रकाशनफलमन्यदेव जगत्स्थितम्।। 23।।

गुह्ये भक्तिः परे भक्तिर्भक्तिर्विश्वमहेश्वरे।
त्वयि शम्भौ शिवे देव भक्तिर्नाम किमप्यहो।। 24।।

भक्तिर्भक्तिः परे भक्तिर्भक्तिर्नाम समुत्कटा।
तारं विरौमि यत्तीव्रा भक्तिर्मेऽस्तु परं त्वयि।। 25।।

यतोऽसि सर्वशोभानां प्रसवावनिरीश तत्।
त्वयि लग्नमनर्घं सयाद्रत्नं वा यदि वा तृणम्॥ 26॥

आवेदकादाच वेद्याद्येषां संवेदनाध्वनि।
भवता न वियोगोऽस्ति ते जयन्ति भवज्जुषः॥ 27॥

संसारसदसो बाह्ये कैश्चित्त्वं परिरभ्यसे।
स्वामिन्परैस्तु तत्रैव ताम्यद्भिस्त्यक्तयन्त्रणैः॥ 28॥

पानाशनप्रसाधनसम्भुक्तसमस्तविश्वया शिवया।
प्रलयोत्सवसरभसया दृढमुपगूढं शिवं वन्दे॥ 29॥

परमेश्वरता जयत्यपूर्वा तव विश्वेश यदीशितव्यशून्या।
अपरापि तथैव ते ययेदं जगदाभाति यथा तथा न भाति॥ 30॥

दिव्यक्रीडाबहुमानाख्यं सप्तदशं स्तोत्रम्

अहो कोऽपि जयत्येष स्वादुः पूजामहोत्सवः।
यतोऽमृतरसास्वादमश्रूण्यपि ददत्यलम्॥ 1॥

व्यापाराः सिद्धिदाः सर्वे ये त्वत्पूजापुरःसराः।
भक्तानां त्वन्मयाः सर्वे स्वयं सिद्धय एव ते॥ 2॥

सर्वदा सर्वभावेषु युगपत्सर्वरूपिणम्।
त्वामर्चयन्त्यविश्रान्तं ये ममैतेऽधिदेवताः॥ 3॥

ध्यानायासतिरस्कारसिद्धस्त्वत्स्पर्शनोत्सवः।
पूजाविधिरिति ख्यातो भक्तानां स सदास्तु मे॥ 4॥

भक्तानां समतासारविषुवत्समयः सदा।
त्वद्भावरसपीयूषरसेनेषां तदर्चनम्॥ 5॥

यस्यानारम्भपर्यन्तौ न च कालक्रमः प्रभो!
पूजात्मासौ क्रिया तस्याः कर्तारस्त्वज्जुषः परम्॥ 6॥

ब्रह्मादीनामपीशास्ते ते च सौभाग्यभागिनः।
येषां स्वप्नेऽपि मोहेऽपि स्थितस्त्वत्पूजनोत्सवः॥ 7॥

जपतां जुह्वतां स्नातां ध्यायतां न च केवलम्।
भक्तानां भवदभ्यर्चामहो यावद्यदा तदा॥ 8॥

भवत्पूजासुधास्वादसम्भोगसुखिनः सदा।
इन्द्रादीनामथ ब्रह्ममुख्यानामस्ति कः समः॥ 9॥

जगत्क्षोभैकजनके भवत्पूजामहोत्सवे।
यत्प्राप्यं प्राप्यते किंचिद्भक्ता एव विदन्ति तत्॥ 10॥

त्वद्धाम्नि चिन्मये स्थित्वा षट्त्रिंशत्तत्त्वकर्मभिः।
कायवाक्चित्तचेष्टाद्यैरर्चये त्वां सदा विभो!॥ 11॥

भवत्पूजामयासङ्गसम्भोगसुखिनो मम।
प्रयातु कालः सकलोऽप्यनन्तोऽपीयदर्थये॥ 12॥

भवत्पूजामृतरसाभोगलम्पटता विभो!
विवर्धतामनुदिनं सदा च फलतां मम॥ 13॥

जगद्विलयसञ्जातसुधैकरसनिर्भरे।
त्वदब्धौ त्वां महत्मानमर्चन्नासीय सर्वदा॥ 14॥

अशेषवासनाग्रन्थिविच्छेदसरलं सदा।
मनो निवेद्यते भक्तैः स्वादु पूजाविधौ तव॥ 15॥

अधिष्ठायैव विषयानिमाः करणवृत्तयः।
भक्तानां प्रेषयन्ति त्वत्पूजार्थममृतासवम्॥ 16॥

भक्तानां भक्तिसंवेगमहोष्मविवशात्मनाम्।
कोऽन्यो निर्वाणहेतुः स्यात्त्वत्पूजामृतमज्जनात्॥ 17॥

सततं त्वत्पदाभ्यर्चासुधापानमहोत्सवः।
त्वत्प्रसादैकसम्प्राप्तिहेतुर्मे नाथ कल्पताम्॥ 18॥

अनुभूयासमीशान प्रतिकर्म क्षणात्क्षणम्।
भवत्पूजामृतापानमदास्वादमहामुदम्॥ 19॥

दृष्टार्थ एव भक्तानां भवत्पूजामहोद्यमः।
तदैव यदसम्भाव्यं सुखमास्वादयन्ति ते॥ 20॥

यावन्न लब्धस्त्वत्पूजासुधास्वादमहोत्सवः।
तावन्नास्वादितो मन्ये लवोऽपि सुखसम्पदः॥ 21॥

भक्तानां विषयान्वेषाभासायासाद्विनैव सा।
अयत्नसिद्धं त्वद्धामस्थितिः पूजासु जायते॥ 22॥

न प्राप्यमस्ति भक्तानां नाप्येषामस्ति दुर्लभम्।
केवलं विचरन्त्येते भवत्पूजामदोन्मदाः॥ 23॥

अहो भक्तिभरोदारचेतसां वरद त्वयि।
श्लाघ्यः पूजाविधिः कोऽपि यो न याञ्चाकलंकितः॥ 24॥

का न शोभा न को ह्लादः का समृद्धिर्न वापरा।
को वा न मोक्षः कोऽप्येष महादेवो यदर्च्यते॥ 25॥

अन्तरुल्लसदच्छाच्छभक्तिपीयूषपोषितम्।
भवत्पूजोपयोगाय शरीरमिदमस्तु मे॥ 26॥

त्वत्पादपूजासम्भोगपरतन्त्रः सदा विभो!
भूयासं जगतामीश एकः स्वच्छन्दचेष्टितः॥ 27॥

त्वद्ध्यानदर्शनस्पर्शतृषि केषामपि प्रभो!
जायते शीतलस्वादु भवत्पूजामहासरः॥ 28॥

यथा त्वमेव जगतः पूजासम्भोगभाजनम्।
तथेश भक्तिमानेव पूजासम्भोगभाजनम्॥ 29॥

कोऽप्यसौ जयति स्वामिन्भवत्पूजामहोत्सवः।
षट्त्रिंशतोऽपि तत्त्वानां क्षोभो यत्रोल्लसन्त्यलम्॥ 30॥

नमस्तेभ्यो विभो येषां भक्तिपीयूषवारिणा।
पूज्यान्येव भवन्ति त्वत्पूजोपकरणान्यपि॥ 31॥

पूजारम्भे विभो ध्यात्वा मन्त्राधेयां त्वदात्मताम्।
स्वात्मन्येव परे भक्ता मान्ति हर्षेण न क्वचित्॥ 32॥

राज्यलाभादिवोत्फुल्लैः कैश्चित्पूजामहोत्सवे।
सुधासवेन सकला जगती संविभज्यते॥ 33॥

पूजामृतापानमयो येषां भोगः प्रतिक्षणम्।
किं देवा उत मुक्तास्ते किं वा केऽप्येव ते जनाः॥ 34॥

पूजोपकरणीभूतविश्वावेशेन गौरवम्।
अहो किमपि भक्तानां किमप्येव च लाघवम्॥ 35॥

पूजामयाक्षविक्षेपक्षोभादेवामृतोद्गमः।
भक्तानां क्षीरजलधिक्षोभादिव दिवौकसाम्॥ 36॥

पूजां केचन मन्यन्ते धेनुं कामदुघामिव।
सुधाधाराधिकरसां धयन्त्यन्तर्मुखाः परे॥ 37॥

भक्तानामक्षविक्षेपोऽप्येष संसारसंमतः।
उपनीय किमप्यन्तः पुष्णात्यर्चामहोत्सवम्॥ 38॥

भक्तिक्षोभवशादीश स्वात्मभूतेऽर्चनं त्वयि।
चित्रं दैन्याय नो यावद्दीनतायाः परं फलम्॥ 39॥

उपचारपदं पूजा केषांचित्त्वत्पदाप्तये।
भक्तानां भवदैकात्म्यनिर्वृत्तिप्रसरस्तु सः॥ 40॥

अप्यसम्बद्धरूपार्चा भक्त्युन्मादनिरर्गलैः।
वितन्यमाना लभते प्रतिष्ठां त्वयि कामपि॥ 41॥

स्वादुभक्तिरसास्वादस्तब्धीभूतमनश्च्युताम्।
शम्भो त्वमेव ललितः पूजानां किल भाजनम्॥ 42॥

परिपूर्णानि शुद्धानि भक्तिमन्ति स्थिराणि च।
भवत्पूजाविधौ नाथ साधनानि भवन्तु मे॥ 43॥

अशेषपूजासत्कोशे त्वत्पूजाकर्मणि प्रभो!
अहो करणवृन्दस्य कापि लक्ष्मीर्विजृम्भते॥ 44॥

एषा पेशलिमा नाथ तवैव किल दृश्यते।
विश्वेश्वरोऽपि भृत्यैर्यदर्च्यसे यश्च लभ्यसे॥ 45॥

सदा मूर्त्तादमूर्त्ताद्वा भावाद्यद्वाप्यभावतः।
उत्थेयान्मे प्रशस्तस्य भवत्पूजामहोत्सवः॥ 46॥

कामक्रोधाभिमानैस्त्वामुपहारीकृतैः सदा।
येऽर्चयन्ति नमस्तेभ्यस्तेषां तुष्टोऽसि तत्त्वतः॥ 47॥

जयत्येष भवद्भक्तिभाजां पूजाविधिः परः।
यस्तृणैः क्रियमाणोऽपि रत्नैरेवोपकल्पते॥ 48॥

आविष्काराख्यम् अष्टादशं स्तोत्रम्

जगतोऽन्तरतो भवन्तमाप्त्वा पुनरेतद्भवतोऽन्तराल्लभन्ते।
जगदीश तवैव भक्तिभाजो न हि तेषामिह दूरतोऽस्ति किञ्चित्॥1॥

क्वचिदेव भवान् क्वचिद्भवानी सकलार्थक्रमगर्भिणी प्रधाना।
परमार्थपदे तु नैव देव्या भवतो नापि जगत्त्रयस्य भेदः॥ 2॥

नो जानते सुभगमप्यवलेपवन्तो
लोकाः प्रयत्नसुभगा निखिला हि भावाः।
चेतः पुनर्यदिदमुद्यतमप्यवैति
नैवात्मरूपमिह हा तदहो हतोऽस्मि॥ 3॥

भवन्मयस्वात्मनिवासलब्धसम्पद्भराभ्यर्चितयुष्मदङ्घ्रिः।
न भोजननाच्छादनमप्यजस्रमपेक्षते यस्तमहं नतोऽस्मि॥ 4॥

सदा भवद्देहनिवासस्वस्थोऽप्यन्तः परं दह्यत एष लोकः।
तवेच्छया तत्कुरु मे यथात्र त्वदर्चनानन्दमयो भवेयम्॥ 5॥

स्वरसोदितयुष्मदङ्घ्रिपद्मद्वयपूजामृतपानसक्तचित्तः।
सकलार्थचयेष्वहं भवेयम् सुखसंस्पर्शनमात्रलोकयात्रः॥ 6॥

सकलव्यवहारगोचरे स्फुटमन्तः स्फुरति त्वयि प्रभो!
उपयान्त्यपयान्ति चानिशम् मम वस्तूनि विभान्तु सर्वदा॥ 7॥

सततमेव तवैव पुरेऽथवाप्यरहितो विचरेयमहं त्वया।
क्षणलवोऽप्यथमा स्म भवेत् स मे न विजये ननु यत्र भवन्मयः॥8॥

भवदङ्घ्रिपरिस्त्रवत्सुशीतामृतपूरैर्भरिते समन्ततोऽपि।
भवदर्चनसम्पदेह भक्तास्तव संसारसरोऽन्तरे चरन्ति॥ 9॥

महामन्त्रतरुच्छायाशीतले त्वन्महावने।
निजात्मनि सदा नाथ वसेयं तव पूजकः॥ 10॥

प्रतिवस्तु समस्तजीवतः प्रतिभासि प्रतिभामयो यथा।
मम नाथ तथा पुरः प्रथां व्रज नेत्रत्रयशूलशोभितः॥ 11॥

अभिमानचरूपहारतो ममताभक्तिभरेण कल्पितात्।
परितोषगतः कदा भवान् मम सर्वत्र भवेद् दृशः पदम्॥ 12॥

निवसन्परमामृताब्धिमध्ये भवदर्चाविधिमात्रमग्नचित्तः।
सकलं जनवृत्तमाचरेयं रसयन्सर्वत एव किञ्चनापि॥ 13॥

भवदीयमिहास्तु वस्तु तत्त्वं विवरीतुं क इवात्र पात्रमर्थे।
इदमेव हि नामरूपचेष्टाद्यसमं ते हरते हरोऽसि यस्मात्॥ 14॥

शान्तये न सुखलिप्सुता मनाग्भक्तिसम्भृतमदेषु तैः प्रभोः।
मोक्षमार्गणफलापि नार्थना स्मर्यते हृदयहारिणः पुरः॥ 15॥

जागरेतरदशाथवा परा यापि काचन मनागवस्थितेः।
भक्तिभाजनजनस्य साखिला त्वत्सनाथमनसो महोत्सवः॥ 16॥

आमनोऽक्षवलयस्य वृत्तयः सर्वतः शिथिलवृत्तयोऽपि ताः।
त्वामवाप्य दृढदीर्घसंविदो नाथ भक्तिधनसोष्मणां कथम्॥ 17॥

न च विभिन्नमसृज्यत किञ्चिद-
स्त्यथ सुखेतरदत्र न निर्मितम्।
अथ च दुःखि च भेदि च
सर्वथाप्यसमविस्मयधाम नमोऽस्तु ते॥ 18॥

खरनिषेधखदामृतपूरणोच्छलितधौतविकल्पमलस्य मे।
दलितदुर्जयसंशयवैरिणस्त्वदवलोकनमस्तु निरन्तरम्॥ 19॥

स्फुटमाविश मामथाविशेयं सततं नाथ भवन्तमस्मि यस्मात्।
रभसेन वपुस्तवैव साक्षात्परमासत्तिगतः समर्चयेयम्॥ 20॥

त्वयि न स्तुतिशक्तिरस्ति
कस्याप्यथवास्त्येव यतोऽतिसुन्दरोऽसि।
सततं पुनरर्थितं ममैत-
द्यदविश्रान्ति विलोकयेयमीशम्॥ 21॥

उद्योतनाख्यम् एकोनविंशं स्तोत्रम्

प्रार्थनाभूमिकातीतविचित्रफलदायकः।
जयत्यपूर्ववृत्तान्तः शिवः सत्कल्पपादपः॥ 1॥

सर्ववस्तुनिचयैकनिधानात्स्वात्मनस्त्वदखिलं किल लभ्यम्।
अस्य मे पुनरसौ निज आत्मा न त्वमेव घटसे परमास्ताम्॥ 2॥

ज्ञानकर्ममयचिद्वपुरात्मा सर्वथैष परमेश्वर एव।
स्याद्वपुस्तु निखिलेषु पदार्थेष्वेषु नाम न भवेत्किमुतान्यत्॥ 3॥

विषमार्तिमुषानेन फलेन त्वदृगात्मना।
अभिलीय पथा नाथ ममास्तु त्वन्मयी गतिः॥ 4॥

भवदमलचरणचिन्तारत्नलतालंकृता कदा सिद्धिः।
सिद्धजनमानसानां विस्मयजननी घटेत मम भवतः॥ 5॥

कर्हि नाथ विमलं मुखबिम्बं तावकं समवलोकयितास्मि।
यत्स्रवत्यमृतपूरमपूर्वं यो निमज्जयति विश्वमशेषम्॥ 6॥

ध्यातमात्रमुदित तव रूपं कर्हि नाथ परमामृतपूरैः।
पूरयेत्त्वदविभेदविमोक्षाख्यातिदूरविवराणि सदा मे॥ 7॥

त्वदीयानुत्तररसासङ्गसन्त्यक्तचापलम्।
नाद्यापि मे मनो नाथ कर्हि स्यादस्तु शीघ्रतः॥ 8॥

मा शुष्ककटुकान्येव परं सर्वाणि सर्वदा।
तवोपहृत्य लब्धानि द्वन्द्वान्यप्यापतन्तु मे॥ 9॥

नाथ साम्मुख्यमायान्तु विशुद्धास्तव रश्मयः।
यावत्कायमनस्तापतमोभिः परिलुप्यताम्॥ 10॥

देव प्रसीद यावन्मे त्वन्मार्गपरिपन्थिकाः।
परमार्थमुषो वश्या भूयासुर्गुणतस्कराः॥ 11॥

त्वद्भक्तिसुधासारैर्मानसमापूर्यतां ममाशु विभो!
यावदिमा उह्यन्तां निःशेषासारवासनाः प्लुत्वा॥ 12॥

मोक्षदशायां भक्तिस्त्वयि कुत इव मर्त्यधर्मिणोऽपि न सा।
राजति ततोऽनुरूपामारोपय सिद्धिभूमिकामज माम्॥ 13॥

सिद्धिलवलाभलुब्धं मामवलेपेन मा विभो संस्थाः।
क्षामस्त्वद्भक्तिमुखे प्रोल्लसदणिमादिपक्षतो मोक्षः॥ 14॥

दासस्य मे प्रसीदतु भगवानेतावदेव ननु याचे।
दाता त्रिभुवननाथो यस्य न तन्मादृशां दृशो विषयः॥ 15॥

त्वद्वपुःस्मृतिसुधारसपूर्णे मानसे तव पदाम्बुजयुग्मम्।
मामके विकसदस्तु सदैव प्रस्रवन्मधु किमप्यतिलोकम्॥ 16॥

अस्ति मे प्रभुरसौ जनकोऽथ त्र्यम्बकोऽथ जननी च भवानी।
न द्वितीय इह कोऽपि ममास्तीत्येव निर्वृततमो विचरेयम्॥17॥

चर्वणाख्यं विंशं स्तोत्रम्

नाथं त्रिभुवननाथं भूतिसितं त्रिनयनं त्रिशूलधरम्।
उपवीतीकृतभोगिनमिन्दुकलाशेखरं वन्दे॥ 1॥

नौमि निजतनुविनिस्सरदंशुकपरिवेषधवलपरिधानम्।
विलसत्कपालमालाकल्पितनृत्तोत्सवाकल्पम्॥ 2॥

वन्दे तान् दैवतं येषां हरश्चेष्टा हरोचिताः।
हरैकप्रवणाः प्राणाः सदा सौभाग्यसद्मनाम्॥ 3॥

क्रीडितं तव महेश्वरतायाः पृष्ठतोऽन्यदिदमेव यथैतत्।
इष्टमात्रघटितेष्ववदानेष्वात्मना परमुपायमुपैमि॥ 4॥

त्वद्धाम्नि विश्ववन्द्येऽस्मिन्नियति क्रीडने सति।
तव नाथ कियान् भूयान्नानन्दरससम्भवः॥ 5॥

कथं स सुभगो मा भूद्यो गौर्या वल्लभो हरः।
हरोऽपि मा भूदथ किं गौर्याः परमवल्लभः॥ 6॥

ध्यानामृतमयं यस्य स्वात्ममूलमनश्वरम्।
संविल्लतास्तथारूपास्तस्य कस्यापि सत्तरोः॥ 7॥

भक्तिकण्डूसमुल्लासावसरे परमेश्वर।
महानिकषपाषाणस्थूणा पूजैव जायते॥ 8॥

सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः॥ 9॥

न क्वापि गत्वा हित्वापि न किंचिदिदमेव ये।
भव्यं त्वद्धाम पश्यन्ति भव्यास्तेभ्यो नमो नमः॥ 10॥

भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदुपयाचितम्॥ 11॥

दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शाङ्करः॥ 12॥

मूले मध्येऽवसाने च नास्ति दुःखं भवज्जुषाम्।
तथापि वयमीशान सीदामः कथमुच्यताम्॥ 13॥

ज्ञानयोगादिनान्येषामप्यपेक्षितुमर्हति।
प्रकाशः स्वैरिणामेव भवान् भक्तिमतां प्रभो!॥ 14॥

भक्तानां नार्तयो नाप्यस्त्याध्यानं स्वात्मनस्तव।
तथाप्यस्ति शिवेत्येतत्किमप्येषां बहिर्मुखे॥ 15॥

सर्वाभासावभासो यो विमर्शवलितोऽखिलम्।
अहमेतदिति स्तौमि तां क्रियाशक्तिमीश ते॥ 16॥

वर्तन्ते जन्तवोऽशेषा अपि ब्रह्मेन्द्रविष्णवः।
ग्रसमानास्ततो वन्दे देव विश्वं भवन्मयम्॥ 17॥

सतो विनाशसम्बन्धान्मत्परं निखिलं मृषा।
एवमेवोद्यते नाथ त्वया संहारलीलया॥ 18॥

ध्यातमात्रमुपतिष्ठत एव त्वद्वपुर्वरद भक्तिधनानाम्।
अप्यचिन्त्यमखिलाद्भुतचिन्ताकर्तृतां प्रति च ते विजयन्ते॥19॥

तावकभक्तिरसासवसेकादिव सुखितमर्ममण्डलस्फुरितैः।
नृत्यति वीरजनो निशि वेतालकुलैः कृतोत्साहः॥ 20॥

इति श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचिता श्रीशिवस्तोत्रावली समाप्ता॥

परिशिष्ट-२

श्लोकानुक्रमणिका

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
मानित विश्वविद्यालय
(मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार के अधीन)
56-57, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, जनकपुरी
नई दिल्ली-110058